भारतीय राजनीति
में
फासिस्ट प्रवृत्तियाँ

भारतीय राजनीति

में

फासिस्ट प्रवृत्तियां

लेखक,

प्रो. शान्तिप्रसाद वर्मा एम० ए०

अध्यक्ष, इतिहास व राजनीति विभाग,

महाराणा कॉलेज, उदयपुर

नवयुग साहित्य सदन,

इन्दौर.

प्रकाशक

गोकुलदास धूत
नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर

प्रथम संस्करण : दिसम्बर १९४८

मुद्रक

कुँवर शिवराजसिंह
सुभाष प्रिन्टिंग प्रेस, गोराकुंड, इन्दौर.

इस पुस्तक में क्या है ?

★ फासिस्ट मनोवृत्ति का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ★

★ हिन्दू सांप्रदायिकता की फासिस्ट प्रवृत्तियों का अध्ययन ★

★ हिन्दू राज्य की कल्पना का विश्लेषण :
ऐतिहासिक दृष्टि से ★

★ हिन्दू राज्य की कल्पना का विश्लेषण :
व्यावहारिक दृष्टि से ★

★ धर्म, समाज, राष्ट्र और राज्य के आपसी संबंधों
की विवेचना ★

★ गांधी, लोकतंत्रवाद और राष्ट्रीयता का
वास्तविक स्वरूप ★

★ भारतीय वातावरण में फ़ासिज्म के पोषक
तत्त्वों की चर्चा ★

लेखक की अन्य राजनैतिक पुस्तकें

हमारी राजनैतिक समस्याएँ
Pakistan Reconsidered
Problem of Democracy in India
स्वाधीनता की चुनौती

विषय-सूची

पृष्ठभूमि : परिचय : प्रयोजन

दुनियाँ आज तेज़ी से दो गुटों में बँटती जा रही है—और इस विभाजन का मुख्य आधार विचार-धाराओं का भेद है। संसार के किसी भी कोने में अमरीका और रूस के भौतिक स्वार्थ एक दूसरे से नहीं टकराते, पर विचार-धाराएँ उन्हें एक दूसरे से अलग किए हुए हैं। अमरीका और उसके साथियों को भय है कि रूस का साम्यवाद यदि अधिक फैला तो उनकी वर्त्तमान समाज-व्यवस्था ख़तरे में पड़ जायगी और इसी प्रकार रूस समझता है कि अमरीका के आर्थिक प्रभाव के फैलते जाने का अर्थ होगा पूंजीवाद का मज़बूत होना—और पूंजीवाद जितना मज़बूत होगा साम्यवाद की अंतिम विजय उतनी ही कठिन और दुःसाध्य हो जायगी। आज रूस को अमरीका से ख़तरा नहीं है, अमरीका की समाज-व्यवस्था के बने रहने से है, और अमरीका को रूस से ख़तरा नहीं है, रूस की साम्यवादी विचार-धारा से है। इसी कारण रूस और अमरीका दोनों ही अपने अपने प्रभाव-क्षेत्रों को अधिक से अधिक फैलाने में व्यस्त हैं। रूस चाहता है कि मध्य-यूरोप, दक्षिण-पूर्वी यूरोप, मध्य-पूर्व और चीन के उन सभी क्षेत्रों में, जो उसकी सीमा का स्पर्श करते हैं, साम्यवादी विचार-धारा मज़बूती के साथ जम सके, जिससे ये सभी क्षेत्र अमरीका के बढ़ते हुए आर्थिक प्रभाव से मुक्त रखे जा सकें। दूसरी ओर अमरीका रूस के इस बढ़ते हुए प्रभाव को देखते हुए इस बात की आशंका करता है कि ज्यों-ज्यों यह प्रभाव फैलता जाएगा, साम्यवाद के ख़तरनाक विचार उसकी प्रादेशिक सीमाओं में भी शक्तिशाली बनेंगे और उसकी वर्त्तमान समाज-भित्ति का आधार निर्बल होता जायगा। इसी कारण अमरीका यह चाहता है कि पश्चिमी यूरोप, मध्यपूर्व और चीन में उसका आर्थिक प्रभुत्व इतना अधिक

फैल जाए कि इन देशों में साम्यवाद का प्रचार न हो सके।

विचार-धाराओं का संघर्ष और हिन्दुस्तान

विचार धाराओं का यह संघर्ष यूरोप में तो मोर्चाबन्दी के काम में लगा हुआ है ही—समस्त पूर्वी व दक्षिण–पूर्वी यूरोप, यूनान और तुर्की को छोड़ कर, रूस के नेतृत्व में संगठित हो चुका है व शेष यूरोप में मार्शल योजना का सहारा लेकर अमरीका का आर्थिक प्रभुत्व स्थापित किया जा चुका है—पर एशिया के समस्त देशों में भी यह गृह-युद्ध की चिनगारियाँ फेंकता चला जा रहा है। चीन में कुओमिन्टांग और कुंगचान्टंग में कई वर्षों से संघर्ष चल रहा है, और कुओमिन्टांग को अमरीका की प्रचुर पर, अव्यवस्थित आर्थिक सहायता मिलते रहने के बावजूद भी कुंगचान्टंग का पलड़ा भारी होता जा रहा है। पिछले कुछ महीनों में दक्षिण-पूर्वी एशिया में इस संघर्ष की लपटें तेज़ी से बढ़ती गई हैं और आज हम मलाया, बर्मा और हिन्देशिया के कई भागों को गृह-युद्ध की इस अग्नि में जलते देख रहे हैं।

यह निश्चित है कि हिन्दुस्तान भी विचार-धाराओं के इस संघर्ष और गृह-युद्ध की उन लपटों से, जिसमें सदा ही इस संघर्ष की अभिव्यक्ति हुई है, बचा नहीं रह सकेगा — यदि वह समय रहते चेता नहीं। यह ठीक है कि अभी तक यह संघर्ष हमारे देश में उतने स्पष्ट रूप में नहीं आया है, पर उसके बीज तो हमारे देश में उपस्थित हैं ही। पूंजीवाद दिन व दिन मजबूत होता जा रहा है और पूंजीवाद के साथ उसकी सभी सहयोगिनी विषमताएँ भी अनिवार्य रूप से बढ़ती जा रही हैं। मुनाफ़ाखोरी की भावना अपनी चरम-सीमा पर है। उद्योग-धंधे तेज़ी के साथ बढ़ रहे हैं। दूसरे महायुद्ध ने उन्हें गति दी और आज़ादी ने उस गति को तीव्रतम बना दिया है। आज़ाद देश की अपनी जिम्मेदारियां होती हैं। उसे अपना सैन्य-बल मजबूत रखना पड़ता है। आजकल की सैन्य-शक्ति का प्रमुख आधार देश का औद्योगिक विकास होता है। पुराने ढंग की जनतंत्रीय सरकार के लिए इस औद्योगिक विकास के

लिए पूंजीपतियों पर निर्भर होना स्वाभाविक होता है। वही सब हमारे देश में हो रहा है। सरकार का प्रमुख आग्रह उत्पादन की वृद्धि पर है। यह ठीक है कि जब तक किसी देश का आर्थिक उत्पादन ठीक तरह बढ़ नहीं जाता तब तक वितरण का प्रश्न गौण ही माना जाना चाहिए—क्योंकि ग़रीबी के बँटवारे का कोई अर्थ नहीं है—पर यह भी निश्चित है कि वितरण के संबंध में यदि हम किसी निश्चित लक्ष्य को लेकर नहीं चलते तो उत्पादन की वृद्धि के बीच के युग में पूंजीवाद को अपनी जड़ें मज़बूती से जमा लेने का समय मिल जाता है। यह भी हमारे देश में हो रहा है। हमारे कुछ प्रमुख अर्थ-शास्त्री पूंजीपतियों के द्वारा खरीद लिए गए हैं और उनमें से कुछ के हाथों में सरकार की अर्थनीति को मार्ग दिखाने का उत्तरदायित्व है। हम समाजवाद की ओर बढ़ना चाहते हैं, पर पूंजीवाद के दलदल में अधिक फँसते जा रहे हैं। इस सबका प्रभाव हमारी वैदेशिक नीति पर भी अनिवार्य रूप से पड़ता है। आज हम चाहते हुए भी, और बार बार अपने इस निश्चय की घोषणा करते हुए भी, अपने को अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी से अलग नहीं रख पा रहे हैं। अमरीका से हमारे आर्थिक संबंध और अंग्रेज़ी कॉमनवेल्थ से हमारे राजनैतिक संबंध मज़बूत होते जा रहे हैं — क्योंकि हमारी अर्थनीति का झुकाव अमरीका और ब्रिटेन की ओर है। इन सब बातों का परिणाम स्वाभाविक है। हमारे देश में ज्यों ज्यों पूंजीवाद मज़बूत बनेगा उसका विरोध भी मज़बूत बनेगा, और ज्यों ज्यों अमरीका का आर्थिक प्रभुत्व हमारे देश में बढ़ता जायगा रूस और उसके समर्थक अपना राजनैतिक प्रभाव बढ़ाना चाहेंगे, इन सबका परिणाम यह होगा कि कम्यूनिस्ट दल मज़बूत बनेगा। उसका कार्यक्षेत्र बढ़ता जाएगा और वह देश में राजनैतिक अराजकता फैलाने में सफल हो सकेगा। इस प्रकार, हमारे राजनैतिक जीवन का रंगमंच यद्यपि अभी इस संघर्ष से मुक्त है पर यह निश्चित है कि नेपथ्य में उसकी ज़ोरदार तैयारियाँ चल रही हैं।

१९३५ और १९४८

१९३५ में प्रसिद्ध फ्रेंच मनीषी रोम्याँ रोलाँ ने अपने कुछ निबन्धों का एक

संग्रह प्रकाशित किया था जिसका शीर्षक था—I will not rest। उनका मत था कि तब सारी दुनियाँ कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्ट-विरोधी—प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी—इन दो विचार-धाराओं में बँट गई थी और इस पुस्तक में प्रत्येक समझदार व्यक्ति से उन्होंने यह आशा प्रगट की थी कि वह अपना समर्थन प्रगतिशील तत्त्वों को देगा। मध्य यूरोप में तेज़ी से बढ़ते हुए फ़ासिस्ट आंदोलनों से यह खतरा पैदा हो गया था कि दुनियां से कम्यूनिज़्म का अस्तित्व ही कहीं मिट न जाए। जर्मनी, इटली और जापान ने रूस के ख़िलाफ़ एक ज़बर्दस्त मोर्चा तैयार कर लिया था और पश्चिम के प्रजातन्त्र कहे जाने वाले देश फ़ासिज्म से सहानुभूति न रखते हुए भी उसके हाथों साम्यवाद के सर्वनाश की संभावना से कुछ संन्तुष्ट से ही प्रतीत होते थे। रोम्याँ रोलाँ ने बताया कि फ़ासिज़्म की विजय से केवल रूस को ही नहीं संसार की सभी प्रगतिशील शक्तियों को खतरा है, परन्तु उनकी आवाज़ नहीं सुनी गई। प्रजातंत्रीय देशों ने फासिज़्म की बढ़ती हुई शक्ति को रोकने का कोई सीधा प्रयत्न नहीं किया बल्कि अप्रत्यक्ष रूप से उसे बढ़ावा ही दिया। परन्तु जो काम पश्चिम के अर्ध-प्रजातंत्रीय देशों के थोड़ी दूर तक ही देख पाने वाले साहसहीन नेता नहीं कर सके वह परिस्थितियों ने कर दिखाया। १६३६ में रूस को आत्मरक्षा की दृष्टि से फ़ासिस्ट शक्तियों से गठबन्धन करना पड़ा, पर उनका अधिक दिनों तक साथ निभना असंभव था। परिस्थितियाँ एक बार फिर बदलीं और १६४१ के ग्रीष्म में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण होते ही रूस और पश्चिम के प्रजातन्त्रों का गठबंधन हुआ। प्रगतिशील चिन्तकों की आशा फिर से लहरा उठी। यह विश्वास होने लगा कि रूस की आर्थिक समानता और पश्चिमी देशों की राजनैतिक स्वाधीनता के दो सिद्धान्त, जो मानवता के पक्षी के दो पखों के समान हैं, एक बार फिर स्थायी रूप से जुड़ सकेंगे और दुनियाँ अपूर्ण विचार-धाराओं के उस संघर्ष से ऊपर उठ सकेगी जो उसे बेचैन बनाए हुए था। पर,क्योंकि समन्वय की आकांक्षा बहुत तीव्र नहीं थी, यह आशा इन्द्रधनुष के रंगों के समान बहुत तेजी से मिटती हुई भी दिखाई दी। फ़ासिज़्म के समर्थक देशों का पतन हुआ, पर फ़ासिज़्म की आत्मा एक ओर

तो जनतन्त्रीय अमरीका और दूसरी ओर साम्यवादी रूस के शरीर में प्रवेश करती हुई दिखाई दी।

आज १९४८ में दुनियां का नक़्शा वह नहीं है जो १९३५ में रोम्यॉं रोलॉं के सामने था। संघर्ष आज भी कम्यूनिस्ट और कम्यूनिस्ट विरोधी दलों में है, पर उन्हें आसानी से प्रगतिशील और प्रतिक्रियावादी भागों में बांटा नहीं जा सकता। १९४८ का रूस १९३५ का रूस नहीं है, और कम्यूनिज़्म आज एक ऐसी डरी, सहमी और (बाहरी देशों में) केवल सचाई में विश्वास रखने वाली पर निर्बल विचार-धारा नहीं है जैसी वह १९३५ में थी। कम्यूनिज़्म के पीछे आज वह रूस है जिसने जर्मनी की फ़ौलादी सेनाओं को बार बार अपनी सीमाओं से बाहर खदेड़ा है, जिसने एक लंबे अर्से तक अकेले जर्मनी और इटली पर अपने आक्रमण जारी रखे हैं, जिसने अमरीका और इंग्लैण्ड के शासकों के साथ श्रेष्ठता के आधार पर विचार-विनिमय किए हैं, जिसके इशारे पर पूर्वी यूरोप के देशों में राजमुकुट और शासन-तंत्र ताश के महल के समान धराशायी हुए हैं और पैरों तले रौंदे गए हैं, जिसके समर्थक आज चीन के विस्तृत रण-क्षेत्रों में एक के बाद दूसरी विजय प्राप्त करते जा रहे हैं और मलाया, बर्मा और हिन्देशिया में वहां की नवजात सरकारों के अस्तित्व को खतरे में डाल रहे हैं और जिसके लक्ष लक्ष अनुयायी आज संसार के सभी देशों में पाए जाते हैं। यह है १९४८ का कम्यूनिज़्म, विजयी, विजय के गर्व से चूर और अहंकार की भावना से प्रेरित और अनुप्राणित, जो आज संसार के एक बड़े भाग के भाग्य का विधाता है, दूसरी ओर अमरीका है। अमरीका आर्थिक साधनों और सामरिक बल की दृष्टि से निःसन्देह संसार का सबसे सशक्त देश है। जनतन्त्र के समर्थकों में भी वह सबसे बड़ा देश रहा है। उसके पूंजीवाद को कभी किसी बड़ी चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा, पर आज जब वह दूसरे देशों में पूंजीवादी व्यवस्था को तेज़ी से टूटते हुए देखता है तो उसके सामने भी यह ख़तरा पैदा हो गया है कि कहीं ऐसा समय न आ जाए जब स्वयं उसकी अपनी पूंजीवादी व्यवस्था पर किए जाने वाले किसी बड़े आक्रमण का उसे मुकाबला करना पड़े। दुनियाँ की सबसे बड़ी ताक़त होने

और परमाणु बम के रहस्य का (संभवतः) एकमात्र ज्ञाता होने के कारण उस का गर्व और अहंभाव यह बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं है कि वह उस दिन की प्रतीक्षा में रुका रहे जब साम्यवाद उसके लिए एक बड़ा खतरा बन जाए। वह अपनी समस्त शक्ति से साम्यवाद को रूस की सीमाओं में ही रोक देना चाहता है।

एक विचारणीय बात यह है कि दोनों ही ओर से जनतंत्र के समर्थन का दावा किया जाता है, और दोनों ही एक दूसरे पर फ़ासिस्ट होने का दोष भी लगाते हैं। पहिले महायुद्ध में अमरीका और इंग्लैण्ड आदि मित्र-राष्ट्रों की ओर से जनतंत्र के समर्थन की घोषणा की जाती थी, और बाद में रूस की गिनती तानाशाही देशों में होती रही, पर इस लड़ाई में स्थिति में बड़ा परिवर्त्तन हुआ और जबकि पश्चिमी देशों ने जनतन्त्र के संबंध में एटलान्टिक-चार्टर की चार स्वाधीनताओं की घोषणा से अधिक कोई उत्साह नहीं दिखाया, स्टैलिन और रूस के प्रचार-विभाग ने बार बार इस बात की घोषणा की कि युद्ध का उद्देश्य "यूरोप और अमरीका की जनता की आज़ादी और प्रजातंत्रीय स्वाधीनता की सुरक्षा" है। जनतंत्र का समर्थन हमें लेनिन और मार्क्स की रचनाओं तक में मिलता है पर कम्यूनिस्ट जब जनतंत्र की बात करता है तब उसका अर्थ वही नहीं होता जो पश्चिमी देशों द्वारा जनतंत्र की चर्चा में होता है। रूस का आग्रह सामाजिक और आर्थिक समानता पर रहता है—जिसके सामने वह राजनैतिक स्वाधीनता को हेय समझता है—और पश्चिमी देशों का लक्ष्य राजनैतिक स्वाधीनता होता है—जिसकी तुलना में आर्थिक और सामाजिक समानता को अधिक महत्त्व नहीं देते। मैं समझता हूँ कि दोनों की ही जनतंत्र की कल्पना अधूरी है और जिस सीमा तक वह अधूरी है वहीं तक उन दोनों में फ़ासिज़्म के विकास के लिए गुंजाइश रह जाती है। एक वर्ग विशेष के हाथ में समस्त जनता के भाग्य का समस्त नियंत्रण हो और वह एकाकी राजनैतिक दल एक व्यक्ति-विशेष के इशारे पर अपना कार्य करता हो, जनसाधारण को सरकार के कार्य की आलोचना करने और अपने स्वतन्त्र राजनैतिक विचार रखने अथवा प्रदर्शित करने की सुविधा न हो तो मुझे तो ऐसे वातावरण में और

फ़ासिज़्म में वड़ी समानता दिखाई देती है। दोनों में ही तानाशाही का वातावरण है जो जनतन्त्र के विकास का सबसे वड़ा शत्रु है; दोनों में ही व्यक्ति के राजनैतिक अस्तित्व को बिल्कुल ही कुचल दिया जाता है; दोनों में ही शक्ति के नग्न रूप को महत्त्व दिया जाता है; दोनों के ही हाथ निर्दोष मानव के रक्त से सने हुए पाए जाते हैं।

दूसरी ओर पूंजीवादी देशों में जिस जनतन्त्र की चर्चा की जाती है उसे समझाने में भी मैं अपने को असमर्थ पाता हूं, क्योंकि मैं नहीं मानता कि पूंजीवादी व्यवस्था के साथ-साथ, उस व्यवस्था के प्रश्रय में जिसका समस्त आधार समाज को शोषित और शोषक, ग़रीब और अमीर, श्रमजीवी और पूंजीपति, इन दो भागों में बांट देना है, और मानव-समानता की भावना को कुचल देना है; सच्चा जनतन्त्र कैसे पनप सकता है। मैं तो इस संबंध में वहुत स्पष्ट हूं कि जनतंत्र को यदि जीवित रहना है तो पूंजीवाद को खत्म होना पड़ेगा। पूंजीवाद पहिले अपने भौतिक स्वार्थ को देखता है, जन-कल्याण को नहीं, और यदि जन-कल्याण के नाम पर हम उसे कुछ टुकड़े फेंकते हुए पाते हैं तो यह तभी तक जव तक जन साधारण उन टुकड़ों से संतुष्ट हो जाता है, पर जब वह अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो जाता है, और गुर्राने लगता है, तब पूंजीवाद उसकी इस मांग को कुचल देने के लिए फ़ासिज़्म का भद्दे से भद्दा रूप धारण करने में हिचकिचाता नहीं है। १६३६ के पहिले के वर्षों में संसार के प्रमुख जनतंत्रीय देशों ने, जिनमें पूंजीवादी व्यवस्था क़ायम थी, जनतन्त्र के मूल-सिद्धान्तों के साथ जैसा विश्वासघात किया और जिस हृदयहीनता के साथ उसके अस्तित्व को ही ख़तरे में डाल दिया उसके बाद किसी भी देश में पूंजीवाद से किसी प्रकार की भलाई की अपेक्षा करना भूल ही नहीं जुर्म होगा। आज के युग का एक सबसे वड़ा काम जनतत्र को पूंजीवाद के चंगुल से मुक्त करना है।

इस पुस्तक में क्या है?

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज फ़ासिज़्म १६३५ के समान संसार के

कुछ हिस्सों तक ही सीमित नहीं है। आज वह अपने विभिन्न रूपों में संसार के अधिकांश देशों पर छाया हुआ है, और मास्को में भी लगभग उतने ही प्रवल रूप में मौजूद है जितना न्यूयार्क में। आज तो यह स्पष्ट हो गया है कि हम कम्यूनिज़्म का झंडा लेकर आगे बढ़ें अथवा जनतंत्र का जयघोष हमारे कण्ठों द्वारा उद्घोषित किया जा रहा हो, हम फ़ासिज़्म के उतने ही प्रवल रूप में शिकार वन सकते हैं। इस कारण इन दोनों में से किसी एक का समर्थन करते हुए हमें फ़ासिज़्म के बढ़ते हुए खतरे के संबंध में तो सतर्क रहना है ही। पर, अन्तर्राष्ट्रीय सतह पर जो फासिस्ट प्रवृत्तियाँ काम कर रही हैं उनका किसी प्रकार का विश्लेषण लेकर यह पुस्तक आपके पास नहीं पहुंच रही है। इसकी परिधि तो भारतीय राजनीति तक ही सीमित है। भारतीय राजनीति में कम्यूनिज़्म और पूंजीवादी जनतंत्र का यह संघर्ष अभी कोई तीव्र रूप नहीं ले पाया है। हमारे देश में फासिज़्म अभी तो अपने उस भौतिक और शुद्ध रूप में ही मौजूद है, तपे हुए लाल लोहे के समान जिसे ठोक-पीट कर विभिन्न रूप दिए जा सकते हैं, जिसमें वह लड़ाई के पहिले के वर्षों में जर्मनी और इटली में पाया जाता था। कम्यूनिज़्म के समान फ़ासिज़्म का विकास भी उन्हीं देशों में संभव होता है जहां जन-तंत्र की परंपराएं गहरी और मज़बूत नहीं होती हैं — उन देशों में जहां सामंतशाही का ढांचा अभी तक मौजूद है वह कम्यूनिज़्म से भी अधिक मज़बूती के साथ अपनी जड़ें जमा लेता है। हमारे देश की राजनीति में फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों का विकास सांप्रदायिकता और धर्मांधता के प्रश्रय में हुआ —और राजनीति अपने सवसे भयंकर रूप में तब दिखाई देती है जब धर्मांधता के साथ उसका गठबन्धन हो जाता है। इस सांप्रदायिकता और धर्मांधता का भारतीय राजनीति में सूत्रपात और विकास कैसे हुआ, इसका विस्तृत विवेचन मैंने दिसंबर १९४५ में प्रकाशित, और नवम्वर १९४६ के वाद से अप्राप्य, 'हमारी राजनैतिक समस्याएँ' शीर्षक पुस्तक में किया है। उसे यहां दोहराया नहीं गया है, इसमें तो केवल यही वताया गया है कि सांप्रदायिकता के विकास के साथ साथ किस प्रकार फासिज़्म के मूल-तत्वों का विकास भी होता गया और किस

प्रकार देश की स्वाधीनता और धर्म के आधार पर उसके बँटवारे के बाद सांप्रदायिकता की भावना जब अपनी चरम-सीमा पर पहुँची तब उसके गर्भ में बहुत दिनों तक पोषित और पल्लवित हिन्दू-राज्य की कल्पना उसके अन्तराल को चीरती हुई अचानक बाहर निकल आई। यह कल्पना और उसके पीछे काम करने वाली समस्त फ़ासिस्ट कार्य-प्रणाली एक अवसर पर कितनी भयंकर हो उठी थी, इसकी कल्पना से हम आज भी सिहर उठते हैं, और यद्यपि महा-मानव गांधी ने अपने प्राणों की बलि देकर हमारी स्वाधीनता, हमारे जनतंत्र और हमारी राष्ट्रीय सरकार के अस्तित्व को बचा लिया, पर इस विचार धारा के विषैले बीज आज भी देश भर में छिटके हुए हैं, और वैसा वातावरण आज भी हमारे देश में है, और वैसे स्थल भी मौजूद हैं, जिनका सहारा लेकर वे एक बार फिर प्रस्फुटित हो सकते हैं, उस ख़तरे की ओर से देश को आगाह करने के उद्देश्य से ही यह पुस्तक लिखी गई है।

इस पुस्तक में कुछ बातें बहुत साफ़ तौर से कही गई हैं। हिन्दू-धर्म और हिन्दू-संस्कृति के प्रति आदर का भाव रखते हुए भी मैं यह मानता हू कि हिन्दुओं का सामाजिक ढांचा, जैसा वह शताब्दियों में विकसित होता गया है, बहुत ही अधिक दोष-पूर्ण है और उसके आधार पर, अथवा हिन्दुओं और अन्य धर्माव-लंबियों में किसी प्रकार के विभेद के आधार पर, किसी राज्य का निर्माण करने की कल्पना केवल अव्यावहारिक ही नहीं है मानव-समाज के प्रति एक भयंकर अपराध है और उसकी स्वयं हिन्दू जाति पर ही एक भीषण प्रतिक्रिया होगी, जिसमें उसका अस्तित्व मिट भी सकता है, और, इसी प्रकार, हिन्दू-संस्कृति की महानता की भावना के पीछे जो एक अहमन्यता छिपी हुई है वह एक अनुदार दृष्टिकोण का ही परिचय देती है। इस विचार-धारा के समर्थकों में सामर्थ्य के आवाहन और शक्ति की उपासना पर ज़ोर दिया गया है। वह भी इसे फ़ासिस्ट विचार-धारा से संबद्ध करता है। मैं यह मानता हूँ कि धर्म का संबंध व्यक्तिगत विश्वास से है और राजनीति पर उसका कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। मैं यह भी मानता हूँ कि गांधीजी के पहिले हमारी राष्ट्रीयता की भावना शुद्ध नहीं थी और गाँधीजी ने ही उसे एक ऐसा स्वरूप दिया

जो सब धर्मों के मानने वालों के लिए मान्य हो सकता था।

मैं यह भी मानता हूँ कि यह फ़ासिस्ट विचार-धारा जब अपनी चरम-सीमा पर थी तब उसका मुक़ाबिला करने के लिए हमारी राष्ट्रीय सरकार ने किसी विशेष समझबूझ या साहस का परिचय नहीं दिया और गांधीजी ने अपने प्राणों की बलि देकर जब देश के कोने कोने में फैल जाने वाले इस ज़हर को पी लेने का प्रयत्न किया तब उनकी हत्या से बन जाने वाले वातावरण से लाभ उठा कर कुछ ज़ोरदार कदम उठाए गए पर जनतंत्र के मूल सिद्धान्तों के जिस सतत और अनवरत प्रचार के द्वारा यह ज़हरीली विचार धारा नियंत्रण में रखी जा सकती थी उसके लिए सरकार ने कोई ठोस काम नहीं किया। मैं मानता हूँ कि यह सब इस कारण हुआ कि हमारी सरकार भी आज उसी द्विविधा में है जिसमें पश्चिमी यूरोप की पूंजीवादी जनतंत्रीय सरकारें १६३६ के पहिले थीं और जिस द्विविधा ने उन्हें दूसरे महायुद्ध की लपटों में झोंका। आज इस द्विविधा से निकल कर यदि हम अपने लिए एक स्पष्ट निर्माणात्मक मार्ग नहीं बना पाए तो मुझे भय है कि हमारा देश भी तीसरे महा युद्ध की लपटों में झुलसे बिना नहीं रहेगा। पूंजीवाद और जनतंत्र का गठ बन्धन यदि अन्य देशों में असफल हुआ है तो हमारे यहाँ भी वह निभ नहीं सकेगा। दोनों को साथ लेकर चलने का मोह हमें छोड़ना ही पड़ेगा। मैं एक बार फिर दोहरा देना चाहूँगा कि यदि हम अपने देश में सच्चे जनतन्त्र की स्थापना करना चाहते हैं तो हमें पूंजीवाद को ख़त्म कर ही देना होगा। पूंजीवाद को क़ायम रखना है या नहीं, इस संबंध में विवाद का समय अब नहीं रह गया है। आज तो हमें यह निश्चय करना है कि वे कौन से तरीके हैं जिन पर चल कर हम उसे कम से कम समय में, और अधिक से अधिक सलीक़े के साथ, ख़त्म कर सकते हैं।

इस संबंध में मेरे रचनात्मक सुझाव क्या हैं? मैं मानता हूँ कि समाजवाद को हमें किसी न किसी रूप में लेना ही होगा, और समाजवाद के प्रति मेरा आग्रह इसीलिए है कि मैं उसे जनतन्त्र के स्वाभाविक विस्तार के रूप में ही मानता हूँ। जनतंत्र के जिस रूप पर अब तक ज़ोर दिया गया है उसमें राज-

नैतिक स्वाधीनता और अधिकारों पर विशेष आग्रह रहा है पर ज्यों ज्यों राजनैतिक अधिकारों का विस्तार होता जायगा आर्थिक समानता की माँग अनिवार्य रूप से सामने आएगी और यदि जनतंत्र को सच्चे अर्थ में जनतंत्र बनाना है तो उसके लिए इस मांग को पूरा करना भी अनिवार्य होगा। मेरा पूरा विश्वास है कि जनतंत्र के इस राजनैतिक आधार की नींव पर ही आर्थिक जनतंत्र के भवन का निर्माण होना चाहिए, उसके विरोध में नहीं, और इसी कारण रूस का साम्यवाद आर्थिक जनतंत्र के अपने समस्त दावे के साथ भी मुझे आकर्षित कर पाने में असमर्थ है। मैं चाहूंगा कि हमारे देश में राजनैतिक स्वाधीनता का स्वाभाविक विकास आर्थिक समानता की स्थापना के रूप में हो। इस प्रकार का कोई भी समाजवाद जनतंत्र के मूल सिद्धान्तों की उपेक्षा करके आगे नहीं बढ़ सकता।

जनतन्त्र के वे मूल-सिद्धान्त कौन से हैं जिन्हें इस जनतंत्रीय समाजवाद को मान कर चलना है ? मैं मानता हूँ कि जनतंत्र की पहिली आवश्यकता एक दूसरे के दृष्टिकोण के प्रति आदर और सहानुभूति की भावना का विकास करने की है। मैं नहीं मानता कि जनतंत्र में बहुमत को, चाहे उसका संगठन किसी भी सिद्धान्त के आधार पर किया गया हो, अल्पमत को कुचलने का अधिकार मिल जाता है। जनतंत्र बहुमत का राज्य नहीं है — किसी सुसंगठित अल्पमत का राज्य तो वह है ही नहीं—बल्कि जनता का अपना, जनता द्वारा संचालित और जनता के लिए संचालित, राज्य है। उसमें हमें छोटे से छोटे अल्पमत के विरोध और उस विरोध के पीछे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करना है और, जब तक वह जनता के सामूहिक हित के विरुद्ध ही न हो, उसका आदर करना है। जनतंत्र की दूसरी प्रमुख आवश्यकता, कम से कम आन्तरिक प्रश्नों में, अहिंसा के पालन की है। अहिंसा केवल वह राजनैतिक हथियार नहीं है जिसके सहारे हमने विदेशी हुकूमत का मुक़ाबिला किया, अहिंसा तो जीवन का एक दृष्टिकोण और तत्त्व-दर्शन है जिसके मूल में सहिष्णुता और प्रेम का भाव रहता है। इस देश में जो भी परिवर्तन वांछनीय माने जाएँ वे सब अहिंसा के मार्ग से लाए जाएँ। उसमें केवल मार-

पीट या रक्तपात से बचने की आवश्यकता ही नहीं है, दूसरी, और कितनी भी ग़लत विचार-धाराओं के समर्थकों से सहिष्णुता का बर्त्ताव भी आवश्यक शर्त्त है। जनतंत्र में हमें प्रतिष्ठित मानवी व्यवहार के निम्नतम स्तर से नीचे नहीं उतर जाना है।

मैं चाहूंगा कि हमारी राष्ट्रीय सरकार, जिसका नेतृत्व जवाहरलाल नेहरू जैसे समाजवादी स्वप्न-द्रष्टा के हाथ में है, जनतंत्रीय समाजवाद के इस मार्ग पर चले। तभी वह एक ओर तो रूस और अमरीका के अर्द्ध-जनतंत्र अर्द्ध-फ़ासिज़्म के खतरे से अपने को मुक्त रख सकेगी और दूसरी ओर हमारे देश में चारों कोनों से भिन्न-भिन्न रूपों में फूट निकलने वाले फ़ासिज़्म के राशि राशि स्रोतों से देश की रक्षा कर सकेगी। आज तो विकास और प्रगतिशीलता का यही एकमात्र मार्ग है। पर यदि कांग्रेस देश में एक समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में सफल नहीं हो सकी तब दूसरे लोगों को सामने आना होगा। मैं चाहूंगा कि वे लोग जनतंत्रीय समाजवाद के सिद्धान्तों के प्रचार द्वारा शिक्षित जनता के विवेकपूर्ण मतदान के सहारे ही शासन-तंत्र को अपने हाथ में ले सकें। मुझे पूरा विश्वास है कि समाजवाद का युद्ध जनतंत्र के माध्यम से ही जीता जा सकता है। किन्हीं अन्य साधनों के द्वारा स्थापित किए जाने वाले समाजवाद में मेरी श्रद्धा नहीं है, और हिंसा द्वारा लाए जाने वाले किसी परिवर्त्तन के स्थायित्व में मेरा विश्वास नहीं है। जनतन्त्र और अहिंसा के सहारे देश में जो समाजवाद की स्थापना करना चाहते हैं—आज तो उनकी गिनती उंगलियों पर है—उन्हें अनवरत रूप से अपने सिद्धान्तों के प्रचार में लगे रहना है। देश में यदि एक भी ऐसा महान् व्यक्ति है जो समाज के वर्त्तमान अर्द्ध-जनतंत्रीय स्वरूप को, सच्चे जनतंत्रीय उपायों द्वारा, संपूर्ण जनतंत्र में परिवर्त्तित करने के प्रयत्न में लगा है तो वह देश को नष्ट भ्रष्ट होने से रोक सकेगा। पर, उस एक व्यक्ति को तो हमने खो दिया है। आज इस कारण हमारे लिए आवश्यक हो गया है कि हम निष्कपट, निःस्वार्थ और निर्भीक व्यक्तियों का एक समूह तैयार करें जो एक ऐसी समाज-व्यवस्था के निर्माण में जुट पड़ें जिससे, धर्म, जाति, वर्ण और वर्ग के भेद से

ऊपर, निःसहाय व्यक्ति, सामान्य व्यक्ति और साधारण व्यक्ति की अधिक से अधिक भलाई हो, और जो अपने मज़बूत हाथों में जनतंत्र की दीपशिखा को प्रज्वलित रख सकें, उस तूफ़ान और अंधड़ में भी जिसका प्रकंपन हमारे निकट के वातावरण में भी गूंजने लगा है। यदि हमारे देश में चिन्तकों और कर्मठों का एक ऐसा दल बन सका तो वह देश को फ़ासिज़्म के प्रबल झंझावात से बचाने और उसमें जनतंत्रीय परंपराओं का निर्माण करने की दिशा में गांधीजी के निर्दिष्ट किए हुए काम को आगे बढ़ाने में अपने को उपयोगी सिद्ध कर सकेगा।

: १ :
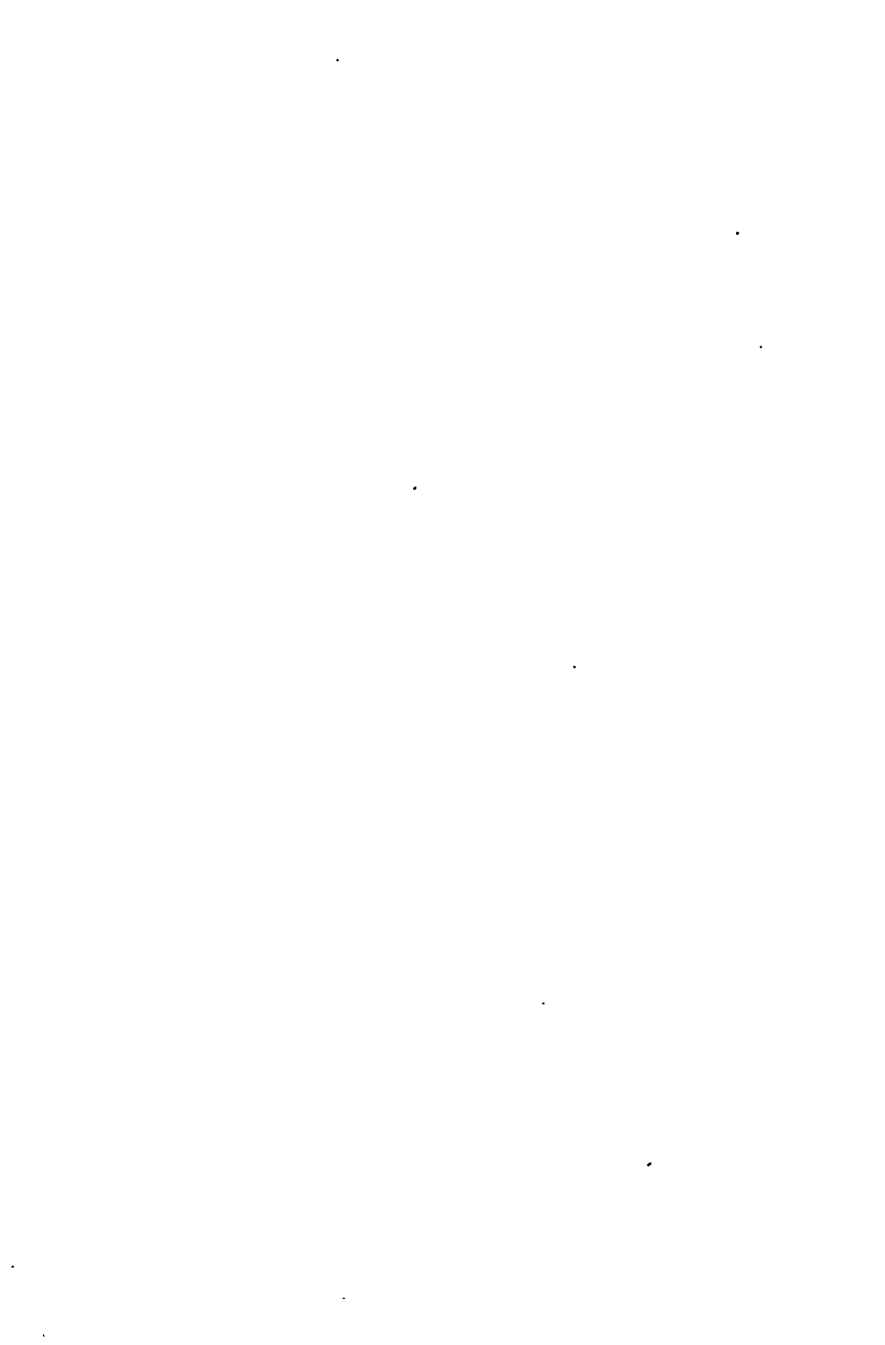
हिन्दू राज्य की कल्पना : ऐतिहासिक विकास

हमारे देश में यह विश्वास सामान्य रूप से प्रचलित रहा है कि मानव इतिहास के आदिम काल में, जब संसार के अन्य सभी देशों में बर्बरता का आधिपत्य था, भारतवर्ष में हिन्दू धर्म, सभ्यता और जीवन दर्शन ने विकास की चरम शिखा का स्पर्श कर लिया था। हमारे समाज का साधारण सा व्यक्ति भी बड़े गौरव के साथ इस बात की घोषणा करता है कि यूरोप के लोग जब नंगे फिरते थे और जानवरों का शिकार करके अपना पेट पालते थे तब हमारे ऋषियों और चिन्तकों ने जीवन के चिरंतर सत्यों को खोज निकाला था, हमारे साहित्यकारों ने रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्यों की सृष्टि कर डाली थी, हमारे व्यापारियों के सुदृढ़ जहाज़ महासागर की गर्वीली लहरों का दर्प चूर्ण करते हुए दूर दूर के देशों की यात्रा करते थे और हमारे सम्राटों का चक्रवर्ती साम्राज्य शासन व्यवस्था व शक्ति का अनुपम उदाहरण बना हुआ था। प्राचीन के संबंध में इस प्रकार का आकर्षण प्राय: प्रत्येक ऐसे समाज में पाया जाता है जो अपने वर्त्तमान से असंतुष्ट, और एक सोनहले भविष्य का निर्माण करने में प्रयत्नशील हो। यूरोप ने जब अपनी मध्ययुग की जंजीरों को तोड़ना चाहा तो उसकी दृष्टि अचानक यूनान की पुरानी सभ्यता पर गई और उससे प्रेरणा लेकर उसने अपनी आधुनिक सभ्यता का पुनर्निर्माण किया। परंतु यूरोप जहाँ प्राचीन से प्रेरणा लेकर मध्ययुग की सड़ी गली संस्थाओं को तेजी से तोड़ता हुआ अपने नए चुने हुए रास्ते पर आगे बढ़ता गया, हमारा गुलाम, अपाहिज समाज एक स्वर्णिम प्राचीन की रंगीन कल्पनाओं को लेकर उनसे स्वप्नों का ताना-बाना बुनने में व्यस्त रहा। हिन्दू धर्म और

संस्कृति में इस गहरे आत्म-विश्वास के साथ ही हमारे देश में यह विचार भी प्रबल होता गया है कि पाश्चात्य सभ्यता का आधार भौतिकवाद पर होने के कारण वह हमारे लिए गर्हित और त्याज्य है। हमें पश्चिम से कुछ लेना नहीं है, देना है। यह भावना हमें स्वामी विवेकानन्द के अमरीका से लौट कर आने के बाद के भाषणों में स्पष्ट दिखाई देती है। एक स्थान पर उन्होंने कहा, "भारत को अवश्य ही संसार पर विजय प्राप्त करनी होगी। इससे नीचे के आदर्श से मैं कभी संतुष्ट नहीं हो सकता......या तो हम लोगों को संपूर्ण जगत को जीतना पड़ेगा अथवा मर जाना पड़ेगा। इसे छोड़ कर दूसरा रास्ता नहीं है। विस्तार ही जीवन का चिन्ह है। हम लोगों को क्षुद्रता, संकुचितता को छोड़ना पड़ेगा, हृदय का विस्तार करना पड़ेगा, हम लोगों में जो जीवन है उसे प्रगट करना पड़ेगा, नहीं तो हम हीनावस्था में पड़ कर नष्ट हो जायेंगे। दूसरा कुछ उपाय ही नहीं है, दो में से एक को चुन लो—या तो करो अथवा मरो।" श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारतवर्ष के लिए एक स्थान पर लिखा कि उसने "शांति के साथ जीने और गहराई के साथ सोचने का प्रयत्न किया है, उसकी एक मात्र आकांक्षा यह रही है कि वह इस विश्व को आत्मा के समान जाने, और अपने जीवन का प्रत्येक क्षण समर्पण की विनम्र भावना में बिता सके, उसके साथ एक अनन्त व्यक्तिगत संबंध की हर्ष पूर्ण चेतना की अनुभूति में।" वहीं रवी ठाकुर पश्चिम की संस्कृति के संबंध में लिखते हैं— "हमने सभ्यता की इस महान धारा को इसमें सम्मिलित होने वाले असंख्य नदी नालों के द्वारा लाए जाने वाले मलबे में दम तोड़ते देखा है। हमने देखा है कि मानवता के अपने समस्त दिखावटी प्रेम के बावजूद भी यह मनुष्य के लिए सबसे बड़ा खतरा बन गई है, उन घुमक्कड़ बर्बरियों के अचानक हमलों से भी कहीं अधिक खतरनाक जिनका दुख इतिहास के प्रारम्भिक युगों में मनुष्य को उठाना पड़ा है। हमने यह भी देखा है कि स्वतन्त्रता के प्रेम की घोषणा करते हुए भी इसने पुराने समाजों में प्रचलित गुलामी से

भी बदतर गुलामी को जन्म दिया है— ऐसी गुलामी जिनकी ज़ंजीरें तोड़ी नहीं जा सकतीं, या तो इसलिए कि वे दिखाई नहीं देतीं या इसलिए कि वे स्वतन्त्रता का नाम व रूप धारण किए हैं। हमने इसके राक्षसी अर्थवाद के मोह में जीवन के सभी वीरता-पूर्ण आदर्शों में, जिन्होंने मनुष्य को महान् बनाया, उसका विश्वास उठ जाते हुए देखा है।"

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन भारत में आध्यात्मिक सत्यों का अन्वेषण बड़ी गहराई के साथ किया गया था, पर यह एक विवादास्पद बात हो सकती है कि इसके आधार पर हम यह दावा करें कि हमारी सभ्यता संसार की सभी प्राचीन सभ्यताओं में सर्वश्रेष्ठ है अथवा हमारा समाज विशेष रूप से आध्यात्मिक है और पश्चिम के लोग अर्थवाद और भोग विलास में डूबे हुए हैं। और वह कौनसी सभ्यता है जिसके लिए हम सर्वश्रेष्ठत्व के इस दावे को पेश करना चाहते हैं ? प्रायः हम आर्य संस्कृति और हिन्दू-संस्कृति को पर्यायवाची मान कर चलते हैं। आर्य-संस्कृति की अपनी कुछ विशेषताएँ थीं पर उसके भारत में प्रवेश करने के पहिले जो आदिम सभ्यताएँ इस देश में थी और जिनमें द्राविड़ सभ्यता को प्रमुख माना जा सकता है, उनकी भी अपनी विशेषताएँ थीं, हरप्पा और मोहेंनजोदड़ो में के खंडहरों में लुप्त जिस सभ्यता के अवशेष चिन्ह प्राप्त हुए हैं वह भी विकास के एक ऊँचे शिखर तक पहुँच चुकी थी और उसका संबंध सीरिया, मेसोपोटेमिया, मिश्र और सभवतः चीन की प्राचीन सभ्यताओं से भी था और इन सब सभ्यताओं की भी अपनी विशेषताएँ थीं। हिन्दुस्तान के बाहर यूनान और उसके बाद रोम, में जिन सभ्यताओं का विकास हुआ उनमें स्वभावतः ही आर्य-सभ्यता के गुण तो मौजूद नहीं थे पर कुछ दूसरे ऐसे गुण थे जिनका आर्य-सभ्यता में अभाव था और जिनके आधार पर आज की पश्चिमी सभ्यता का समस्त ढाँचा खड़ा हुआ है। सच तो यह है कि प्रत्येक देश और समाज में भौगोलिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार विशेषताओं का विकास होता रहता है और दो सभ्यताएँ जब एक दूसरे के संपर्क में आती हैं तब इन विशेषताओं की एक दूसरे पर छाप पड़ती है और इस संपर्क के परिणाम-स्वरूप कभी एक सभ्यता अपना पुराना

स्वरूप खो बैठती हैं और दूसरी में विलुप्त हो जाती है और कभी दोनों सभ्यताओं के समत्व संतुलन से एक नई सभ्यता जन्म लेती हैं। जिस सभ्यता को हम इतिहास में हिन्दू सभ्यता के नाम से जानते हैं उसका जन्म ईसा से कई शताब्दी बाद, गुप्त-काल में, आर्य, द्रविड़, ईरानी, यूनानी आदि कई सभ्यताओं के संपर्क-सम्मिश्रण, क्रिया-प्रतिक्रिया, संघर्ष-समावर्त्तन आदि के परिणाम-स्वरूप हुआ। उसे हम वैदिक काल की आर्य-संस्कृति से संबद्ध नहीं कर सकते। यह हिन्दू-संस्कृति भी भारतीय संस्कृति के उस अविच्छिन्न धारा-प्रवाह का एक अस्थाई विराम-स्थल है जो कई शताब्दियों तक इस्लामी सभ्यता के प्रभाव में अपनी यात्रा पर चलता रहा और आज पश्चिम की विज्ञान-वादी सभ्यता से टकरा कर पीछे हटता है और उसके राशि-राशि प्रभावों को अपने में आत्मसात् करके आगे बढ़ने के प्रयत्नों में फिर जुट पड़ता है। पटना की गंगा में हरिद्वार की गंगा का जल ढूंढने के प्रयत्नों में गंभीरता-पूर्वक लगे हुए पवित्रतावादियों के साहस की प्रशंसा की जा सकती है पर उनकी बुद्धि के लिए क्या कहा जाए ? जिस प्रकार नदी की धारा का तेज इसीमें है कि वह सभी प्रभावों को अपने में मिलाती हुई निरंतर और अबाध गति से आगे बढ़ती जाए इसी प्रकार वही संस्कृति अपने को जीवित रख पाती है जो अन्य संस्कृतियों से आदान-प्रदान का सौदा करती हुई आगे बढ़ती हैं। अपने तक ही सीमित संस्कृति बँधे हुए पानी के समान सड़ने लगती है। भारतीय संस्कृति संसार की अन्य संस्कृतियों की तुलना में श्रेष्ठ है अथवा निकृष्ट इस प्रश्न का उत्तर देना तो कठिन है — प्रत्येक संस्कृति अपनी सर्वश्रेष्ठता का दावा रखती है — पर भारतीय संस्कृति की अब तक की जो सबसे बड़ी विशेषता रही है वह यही कि उसने अपनी खिड़कियों को बाहर की ताजी हवा के लिए कभी बन्द नहीं किया। जहाँ तक इस धारणा का प्रश्न है कि हम अध्यात्मवादी हैं और पश्चिम अर्थवाद और भोग विलास में डूबा है, यह निश्चय ही एक आधार हीन आत्म-विश्वास है। किसी भी देश अथवा समाज को सामूहिक दृष्टि से अध्यात्मवादी अथवा भौतिकतावादी क़रार नहीं दिया जा सकता। अध्यात्मवादिता तो जीवन का एक दृष्टिकोण है जो प्रत्येक देश और समाज के व्यक्तियों

में पाया जाता है ! क्या हम अपनी सभ्यता को इसी आधार पर आध्यात्म-वादी कह सकते हैं कि हमारे प्राचीन ऋषियों ने जीव; ब्रह्म और आत्मा के संबंध में गहराई से सोचा और महान धर्म-ग्रंथों का निर्माण किया ? क्या हमारा यह दावा सच माना जा सकता है कि हमारे देश के साधारण व्यक्ति ने किसी भी युग में अपने दिन प्रतिदिन के जीवन को इन ऊंचे आदर्शों के साँचे में ढालने के प्रयत्नों में सफलता प्राप्त की ? क्या उसका जीवन भी उपनिषदों और धर्म-ग्रंथों के सिद्धान्त से उतना ही अछूता नहीं रहा जितना पश्चिम के जन-साधारण का ईसा की शिक्षाओं से ? क्या हमारे महन्त; मठाधीश और जगद्गुरुओं का जीवन भी उतना ही भ्रष्ट नहीं रहा जितना यूरोप के पोप और पादरियों का ? क्या हमारे मंदिर पापाचार के अड्डे नहीं रहे और क्या हमने सभी धार्मिक सिद्धान्तों को भुला कर मनुष्य और मनुष्य के बीच में असमानता और अस्पृश्यता की दीवारें खड़ी नहीं कीं ? जहां तक ऊँचे आदर्शों का संबध है पश्चिम में भी उनकी कमी नहीं रही और उन पर चलने वाले संतों की परंपराएँ भी वहां आज तक जारी है।

सच तो यह है कि पूर्व और पश्चिम की सभ्यताओं का भेद एक अर्थ हीन वाद विवाद है जिसका प्रारंभ पश्चिमी लोगों की इस धारणा में हुआ कि उन की सभ्यता पूर्व की सभ्यता से श्रेष्ठ है। जिस आसानी से यूरोप के देशों की छोटी छोटी संगठित सेनाएँ, लड़ाई की नई पद्धतियों और नए हथियारों के सहारे, पूर्व के बड़े बड़े राज्यों को नष्ट भ्रष्ट कर सकीं उसने उनके इस विश्वास को और भी दृढ़ बना दिया। थोड़े से समय में पुरानी सभ्यताओं को जन्म देने वाले बड़े बड़े देशों को उनके साम्राज्यवादी झंडों के सामने घुटने टेकने पर विवश होना पड़ा। व्यापार को फैलाने के लिए जब तक उन्होंने राजनैतिक प्रभुत्व तक ही अपने प्रयत्नों को सीमित रखा तब तक पूर्व के ये पराजित और हतप्रभ देश चुप रहे पर जब राजनीति के मूल-स्रोतों पर क़ब्जा करने की दृष्टि से पश्चिम के देशों ने अपनी संस्कृति में भी उन्हें दीक्षित करना चाहा तभी से उनके प्रति विद्रोह की भावना उभरने लगी और इसका परिणाम यह हुआ कि पूर्व के देशों में, जहां एक लंबे अर्से तक भौतिक शक्ति के विकास की आशा नहीं

की जा सकती थी, यह धारणा फैल चली कि उनकी अपनी सभ्यता का आधार अध्यात्मवाद पर स्थापित है, जो पश्चिम के भौतिकवाद से कहीं अधिक महान् वस्तु है, और यद्यपि पश्चिम ने अपने भौतिकवाद की शक्ति से उन्हें थोड़े दिनों के लिए परास्त कर लिया है पर वह समय दूर नहीं है जब पश्चिम अपनी सभ्यता की इस एकांगिता को समझेगा और एक जिज्ञासु के समान बल्कि यह कहना चाहिए कि उस पापी के समान जो सांसारिकता में डूबा हुआ था और अब पश्चाताप की आग में झुलस रहा है, चिथड़ों में लिपटा और राख में सना उसके पैरों में अपना सिर रख देगा और कहेगा, "प्रभो, क्षमा करो। मैं गलत मार्ग पर जा रहा था। सही रास्ता मैं नहीं जानता। तुम मेरा मार्ग प्रदर्शन करो।" और तब पूर्व एक सर्वज्ञ गुरू के समान संसार का नेतृत्व अपने हाथ में लेगा। शक्ति के मद में डूबे हुए पश्चिम के निरंतर बढ़ते हुए जातीय अभिमान, उसकी अवहेलना और उसके अपमान जनक व्यवहार के प्रति एक अपमानित, लांछित, पराजित और पदत्रस्त समाज का, जिसके बढ़ते हुए आत्म-विश्वास का एकमात्र आधार प्राचीनता का गौरव ही हो सकता था, यह एक स्वाभाविक रक्षा-कवच था। अपने देशों को पश्चिम के साम्राज्यवादों से मुक्त करने के प्रयत्नों में लगे हुए थोड़े से देश भक्तों के लिए बार बार की पराजय के झोंकों में भी अपने आत्म विश्वास के दीपक को प्रज्वलित रखने के लिए इससे अधिक स्वाभाविक कोई मार्ग हो ही नहीं सकता था कि वे इस संघर्ष की बात संस्कृति के स्तर पर रख कर सोचें, एक ऐसे स्तर पर जिसमें अपनी महानता का उनका विश्वास डिगाया नहीं जा सकता था। पूर्व और पश्चिम के बीच संस्कृति का कोई मौलिक अन्तर है, यह कल्पना आज तो इतिहास के तेजी से पीछे हटने वाले पृष्ठों में खोती सी जा रही है।

भारतीय राष्ट्रीयता और उसका हिन्दू आधार

इसमें भी संदेह नहीं कि एक समय था जब पूर्व और पश्चिम के बीच इस सांस्कृतिक भेद और भारतीय सभ्यता की श्रेष्ठता के इस विश्वास ने हमारे

राष्ट्रीय आंदोलन में नवीन प्राणों का संचार किया था। हमारे देश में राष्ट्रीय चेतना का विकास ही उस आलोचना की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था जो अंग्रेज लेखकों द्वारा हमारी धार्मिक रूढ़ियों और सामाजिक कुरीतियों के संबंध में की जाती थी। राम मोहन राय ने सबसे पहिले इस बात को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि जहां हिन्दू धर्म के बाह्य रूप में कुछ खराबियां आ गई थीं— और सभी धर्मों के बाह्य रूप में इस प्रकार की खराबियां पैदा हो जाती है, राम मोहन राय ने ईसाई विश्वासों मे से अनेकों उदाहरण देकर अपनी इस बात को प्रमाणित किया—उसका आन्तरिक रूप शुद्ध और उसके मूल सिद्धांत सच्चे और विज्ञान-सम्मत थे। अपने इन विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने एक ओर 'जीसस के उपदेश' नाम की पुस्तक लिखी और दूसरी ओर उपनिषदों का अनुवाद और प्रचार किया। राम मोहन राय की सबसे बड़ी सेवा यह थी कि उन्होंने हिन्दू धर्म मे हिन्दु जनता के आत्म विश्वास को जागृत किया, पर राम मोहन राय ने यह कभी नहीं चाहा कि हिन्दू जनता हिन्दू धर्म के संसार में सर्वश्रेष्ठ होने के दावे को पेश करे और अन्य धर्मों से जो अच्छी बातें ली जा सकती हैं उन्हें लेने से इन्कार कर दे। इन्ही दिनों अनेकों पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय साहित्य-ग्रंथों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद किया और उनकी श्रेष्ठता के संबंध में लिखा। अन्य देश के लोगों को हमारे साहित्य और जीवन-दर्शन की प्रशसा करते देख कर सहज ही हमारे आत्म-विश्वास को पुष्टि मिली, परंतु ज्यों-ज्यों आत्म विश्वास की यह चेतना राष्ट्रीयता का रूप लेती गई हमने दंभ की भावना का विकास भी किया, हम यह मानने लगे कि हमारा धर्म और हमारी संस्कृति ही ससार में सर्व श्रेष्ठ ही नही, एकान्त सत्य भी है और जितने भी दूसरे धर्म और संस्कृतियां है वे सब पथ-भ्रष्ट हैं और इसलिए उपेक्षणीय और अग्राह्य और त्याज्य हैं। इस भावना के विकास के साथ ही अपनी संस्कृति के शुद्ध तत्वों को ढूंढने, जिन विदेशी तत्त्वों का उसमें पिछली शताब्दी में समावेश हो चुका है उन्हें चुन चुन कर निकाल देने और संस्कृति के इस बचे हुए शुद्ध स्वरूप को लेकर अपने समाज का पुनर्निर्माण करने को एक महान आंदोलन देश में चल पड़ा। आर्य समाज के साहित्य और

संगठन में हम इस भावना को अपने सबसे उग्र रूप में पाते हैं। आर्यसमाज ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया कि ईश्वर ने जीवन के मूल-सत्यों को वेदों द्वारा प्रगट किया और यज्ञ और कर्मकाण्ड के आधार पर जिस सभ्यता का विकास वेदों में हुआ वही सभ्यता मानवता का अन्तिम लक्ष्य है उस आदर्श से हम जितने स्खलित होते गए और दूसरी निकृष्ट सभ्यताओं के संपर्क से अपने को दूषित बनाते गए उतना ही हमारा पतन होता गया। अब हमारा प्राथमिक कर्त्तव्य यह है कि अपनी उस प्राचीन, गौरव शाली, महान् सभ्यता के शुद्ध स्वरूप को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रत्येक जाति के अपने संस्कार होते हैं और अपना एक वातावरण होता है, उसी में उसका सच्चा विकास संभव होता है। जब वह दूसरे के संस्कारों को अपनाने का प्रयत्न करती है तभी उसका पतन शुरू हो जाता है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' यह भावना हम केवल आर्यसमाज में ही नहीं उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के अन्य आंदोलनों, थियोसोफ़िकल सोसाइटी, सनातन धर्म महामंडल आदि में भी पाते हैं।

हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनरोत्थान के इस प्रयत्न में ही हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म हुआ। विवेकानन्द ने धर्म को राजनीति से अलहदा रखने का जो सन्देश दिया था उस पर अधिक दिनों तक नहीं चला जा सकता था क्योंकि धर्म की जो गतिशील कल्पना विवेकानन्द ने जनता के सामने रखी थी और उसके आधार पर जातीय पुनरोत्थान को व्यवस्थित करने की जो प्रेरणा उन्होंने दी थी, और जिस प्रकार हिन्दू धर्म और सस्कृति को उन्होंने भारतीय धर्म और संस्कृति को पर्यायवाची बना दिया था, उन सबको देखते हुए यह बिल्कुल स्वाभाविक था कि राष्ट्रीय जागरण और संगठन का उनका संदेश एक राजनैतिक आन्दोलन का सूत्रपात करे। मुस्लिम समाज में भी उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से सांस्कृतिक शुद्धता और धार्मिक पुनरोत्थान के कुछ आन्दोलन चल रहे थे पर शिक्षा की कमी, आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए होने और कुछ अन्य कारणों से इन आन्दोलनों की प्रतिक्रिया एक व्यापक रूप नहीं ले सकी, और राजनैतिक क्षेत्र में उसकी जो अभिव्यक्ति हुई, वह सरकार से सहयोग और अधिक पदों की मांग से आगे नहीं जा सकी। इसका परिणाम यह

हुआ कि 'राष्ट्रीय' आन्दोलन के विकास में जहां थोड़े बहुत मुसलमान, पारसी आदि शामिल हुए उसमें प्राधान्य हिन्दुओं के हाथ में रहा, ऐसे हिन्दुओं के जो राष्ट्रीय आन्दोलन के द्वारा हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुर्ननिर्माण के स्वप्नों को प्राप्त करने के लिए बेचैन थे, और जिनकी दृष्टि में भारतीय स्वाधीनता का अर्थ था हिन्दू पुनरोत्थान। तिलक ने जिस 'स्वराज्य' का शंखनाद किया उसमें शिवाजी के उस 'स्वराज्य' के बीज स्पष्ट रूप से छितरे हुए थे जिसकी नींव 'गोधर्म हिताय' और 'हिन्दू धर्म संस्थापनाय' डाली गई थी। मैं मानता हूँ कि कि इन नेताओं का चिन्तन बहुत स्पष्ट नहीं था, और अल्पसंख्यक वर्गो के प्रति उनके मन में दुर्भावना नहीं थी, पर 'स्वराज्य' की जो कल्पना उनके सामने थी उसका स्पष्ट लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना था जिसका मुख्य आधार हिन्दू-धर्म और संस्कृति पर रखा गया था, जिसका नेतृत्व हिन्दूओ के हाथ में होता और जिसमें निःसदेह अल्पसंख्यकों के साथ उदारता का वर्त्ताव किया जाता—क्योंकि ऐसा बर्त्ताव ही हिन्दू संस्कृति की भावना के अनुकूल होता—और उन्हें अपने धर्म और संस्कृति पर चलने की भी पूरी सुविधा होती पर जिसका स्पष्ट लक्ष्य हिन्दू संस्कृति का पुनरोत्थान ही होता। हमारा राष्ट्र-ध्वज, हमारा राष्ट्र गीत और हमारे राष्ट्रीय उद्घोष सभी-हिन्दू भावना में रंगे हुए होते।

गांधी, लोकतंत्रवाद और राष्ट्रीयता का वास्तविक रूप

हमारी राष्ट्रीय चेतना के मूल मे हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनरोत्थान का प्रयत्न था और उसकी बाह्य अभिव्यक्ति पश्चिमी सभ्यता के प्रति उपेक्षा और निरादर की भावना और अँग्रेजी शासन के प्रति घृणा और प्रतिरोध के प्रचार में हो रही थी, परंतु कई समस्याओं की ओर से हम उदासीन थे। हिन्दू धर्म और संस्कृति के पुनरोत्थान की कल्पना एक आकर्षक वस्तु थी परंतु देश में जहां २४ करोड़ के लगभग हिन्दू थे उनके बीच में ७ करोड़ मुसलमान भी थे। भावी 'स्वराज्य' में उनका क्या स्थान होगा, इस प्रश्न का स्पष्ट उत्तर किसी के पास नहीं था। मुसल्मानों ने अन्य देशों में अपने को राष्ट्रीय संस्कृति में घुल-

मिल जाने दिया है। चीन के मुसलमानों का पहिरावा, बोल-चाल, रहन-सहन अन्य चीनियों से भिन्न नहीं है और हिन्देशिया के मुसलमान वहाँ के अल्प-संख्यक हिन्दुओं की संस्कृति में बिल्कुल ही रंग गए हैं। परंतु, हिन्दुस्तान में जहां हिन्दुओं और मुसलमानों की एक मिली-जुली संस्कृति बनने लगी थी हिन्दुओं का सामाजिक ढाँचा इतना संकीर्ण होता गया था कि उसमें मुसलमानों के प्रवेश के लिए कोई स्थान नहीं था और उन्हें अपने लिए एक अलग समाज-तंत्र बनाने के लिए विवश होना पड़ा था। हिन्दुओं की समाज-व्यवस्था की इस कट्टरता के कारण मुसलमान शासक होते हुए भी, आर्थिक दृष्टि से कभी संपन्न नहीं बन पाए थे। सामाजिक समानता के सिद्धान्त पर स्थापित होने के कारण इस्लाम निम्न वर्ग के उन असंख्य हिन्दुओं के लिए एक आश्रय-स्थल बन गया था जो अपने समाज के 'ऊँचे' लोगों के द्वारा उपेक्षा और निरादर की दृष्टि से देखे जाते थे और इस कारण संख्या की दृष्टि से वह फैल गया था, पर थोड़ी-बहुत ज़मीन या छोटे-मोटे व्यापार या कुछ सरकारी नौकरियों से अधिक आर्थिक साधन उसके अनुयायियों को तब भी उपलब्ध नहीं थे जब वे देश के शासक थे। राजनैतिक सत्ता उनके हाथ से चले जाने के बाद तो उनका सांस्कृतिक पतन बड़ी तेज़ी के साथ होने लगा था और देश में सामाजिक पुनरोत्थान का प्रारंभ होने के बाद भी वे लोग हिन्दुओं से कई पीढ़ी पिछड़ गए थे, पर हिन्दू समाज में घुल-मिल जाने की कोई सुविधा उनके पास नहीं थी और इस कारण राष्ट्रीयता के विकास में उनका एक समस्या बन जाना स्वाभाविक था। यह आवश्यक था कि हिन्दू पुनरोत्थान के कर्णधारों के पास इस समस्या का कोई समाधान होता।

सामाजिक विभिन्नताओं के होते हुए भी हिन्दू और मुसलमानों में किसी प्रकार का व्यक्तिगत द्वेष नहीं था। मुसलमान सीमाप्रांत, पंजाब के पश्चिमी जिलों, सिन्ध और पूर्वी बंगाल में अधिक संख्या में थे, पूर्वी पंजाब, दिल्ली और पश्चिमी संयुक्त प्रांत में उनकी संख्या हिन्दुओं के लगभग बराबर थी पर सुदूर दक्षिण तक देश का कोई भाग ऐसा नहीं था जहाँ वह प्रत्येक नगर अथवा गाँव में न बसे हुए हों और इसी प्रकार सीमा-प्रांत और अफ़ग़ानिस्तान तक में

हिन्दू काफ़ी संख्या में फैले हुए थे। उनकी बोल-चाल और पहरावे पर प्रादेशिकता की छाप अधिक थी, धर्म की बहुत कम। एक दूसरे के साथ लेन-देन, व्यापार और मधुर सामाजिक संबंध चलते रहते थे, परंतु हिन्दू पुनरोत्थान की लहर के साथ मध्य-वर्ग के हिन्दुओं में, अपने धर्म और संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता की भावना के साथ, मुसल्मानों के प्रति उपेक्षा की भावना बढ़ने लगी थी और उसके बाद ही जब मुस्लिम-समाज में इसी प्रकार के पुनरोत्थान के आंदोलन ज़ोर पकड़ने लगे तब उन्होंने भी हिन्दुओं के प्रति इसी प्रकार की अहमन्यता की भावना विकसित कर ली। अंग्रेज़ी शासन ने जो हिन्दुओं की बढ़ती हुई राष्ट्रीयता से सशंकित हो चला था, मुसल्मानों को बढ़ावा दिया और दोनों संप्रदायों के बीच के अन्तर को राजनैतिक दाव-पेंचों के द्वारा बढ़ाते रहने का प्रयत्न किया। इधर, दोनों समाजों के बीच का आर्थिक विरोध भी दिनों दिन स्पष्ट होता जा रहा था। ज़मीन और व्यापार तो हिन्दुओं के हाथ में थे ही, शिक्षा में अग्रणी होने के कारण सरकारी नौकरियाँ भी अधिकतर उन्हीं को मिल रही थीं। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि मुसल्मानों में भी संगठन की भावना बढ़ी। सर सैयद अहमद ने सामाजिक दृष्टि से उनका संगठन किया था। मिण्टो के शासन-काल में, उनसे प्रेरणा पाकर, मुसल्मानों ने सांप्रदायिक चुनाव की माँग की, जो फ़ौरन स्वीकृत भी हो गई। सांप्रदायिक चुनावों के अमल में आते ही सांप्रदायिक विद्वेष आग की लपटों के समान तेज़ी से बढ़ चला। मस्जिद के सामने बाजा बजाने अथवा मोहर्रम के अवसर पर गोवध के प्रश्नों पर उसे छोटे मोटे दंगों के रूप मे अभिव्यक्ति भी मिल जाती थी। उधर, तुर्की के सुल्तान के नेतृत्व में एक अखिल-इस्लामी आन्दोलन का विकास हो रहा था और अपने देश में उपेक्षित और अनादृत भारतीय मुसल्मानों की दृष्टि उस ओर भी खिंची थी। भारतीय मुसल्मान एक विश्व-व्यापी इस्लामी संगठन के अंग बनते जा रहे थे। यदि विकास की यह दिशा अधिक दिनों तक बनी रहती तो उससे भारतीय राष्ट्रीयता की समस्या के और भी अधिक जटिल हो जाने की संभावना थी।

भारतीय राष्ट्रीयता के विकास की इस नाज़ुक स्थिति में देश का राजनै-

तिक नेतृत्व गाँधीजी ने अपने हाथ में लिया। हिन्दू-धर्म और संस्कृति के प्रति एक अभूतपूर्व ममत्व गाँधीजी के व्यक्तित्व में कूट कूट कर भरा था पर वे राष्ट्रीयता-संबंधी उन विचार-धाराओं से भी परिचित थे जो अन्य देशों में विकसित हो रही थीं और जिसका आधार सभी देशों में भौतिक लोकतंत्रवाद पर प्रस्थापित था। गाँधीजी ने अपनी पैनी दृष्टि से बहुत जल्दी इस बात को समझ लिया कि हिन्दुस्तान को यदि स्वाधीन होना है तो वह न तो देश भर में बिखरे हुए, और उसके जीवन से गुंथे-मिले, सात-आठ करोड़ मुसल्मानों की उपेक्षा कर सकेगा और न पांच छः करोड़ अस्पृश्यों को उनकी वर्त्तमान स्थिति में रखे रहना उसके लिए संभव होगा। इसी कारण गांधीजी ने शुरू से ही हिन्दू-मुस्लिम एकता और अस्पृश्यता-निवारण को अपने राजनैतिक कार्य-क्रम का प्रमुख आधार बनाया। यह एक निर्विवाद सत्य है कि अपने इन कामों में, विशेष कर मुसल्मानों का सहयोग प्राप्त करने में, गांधीजी को परिस्थितियों से भी सहायता मिली। मुस्लिम-समाज में भी उग्र विचार रखने वाला एक ऐसा वर्ग तेजी से बढ़ रहा था जिसका दृष्टिकोण शुद्ध राष्ट्रीय था — एशिया के सभी देशों में, जिनमें तुर्की मिश्र, ईरान आदि मुस्लिम देश भी शामिल थे, फैलने वाली राष्ट्रीयता की प्रतिक्रिया भी उस पर थी ही— और जिसकी निष्ठा का प्रमुख लक्ष्य हिन्दुस्तान था। इस्लाम के राजनैतिक केन्द्र, तुर्की, के प्रति योरोपीय राष्ट्रों का जो विरोधी दृष्टिकोण था उसके प्रति ब्रिटेन की समर्थन-नीति अथवा उदासीनता के कारण कट्टर-पंथी भारतीय मुसल्मानों में भी अंग्रेजों के प्रति विरोध की भावना बढ़ती जा रही थी। प्रथम महायुद्ध में ब्रिटेन और तुर्की के एक दूसरे के विरुद्ध होने के कारण भारतीय मुसल्मानों की राज-भक्ति और धर्म-निष्ठा के बीच एक बड़ा द्वन्द्व खड़ा हो गया था और युद्ध में तुर्की के हार जाने के बाद भारतीय मुसल्मानों का सारा प्रयत्न ख़िलाफ़त को बचाने में लग रहा था। अंग्रेज़ों के सामान्य विरोध ने सभी वर्गों के मुसल्मानों को हिन्दुओं द्वारा संचालित राष्ट्रीय आंदोलन के समीप ला दिया था, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण कांग्रेस और मुस्लिम लीग के १९१६ के लखनऊ के समझौते में और उसके बाद कई वर्षों तक कांग्रेस और लीग के वार्षिक अधिवेशन एक ही

समय पर एक ही नगर में होने में मिलते हैं। गांधीजी दक्षिण अफ्रीका के संघर्ष में विजयी होकर लौटे थे, इसी कारण देश के हिन्दू व मुसलमान सभी ने अपने राष्ट्रीय, जातीय और धार्मिक स्वत्वों के लिए लड़ने का दायित्व उन पर डाल दिया था और गांधीजी के सत्याग्रह के प्रयोग के महान् यज्ञ में ये सभी समिधाएँ आ जुटी थीं, उनके द्वारा अग्नि-दान लेकर सुलग उठीं थीं और उस यज्ञ की लपटें आकाश का स्पर्श करने लगी थीं।

गांधीजी के सत्याग्रह के आंदोलन के साथ ही हमारे देश में लोकतंत्र के सिद्धान्तों का प्रचार भी तेजी के साथ होने लगा था। लोकतन्त्रीय संस्थाएँ दिखावे के रूप में हमारे देश में १८८१ के बाद से ही विकसित होने लगी थीं पर लोकतंत्र के संबंध में सैद्धान्तिक चर्चा प्रथम महायुद्ध के पहिले, बीच में और बाद में जितनी अधिक हुई पहिले कभी नहीं हुई थी। इस चर्चा से हमारे सामने यह स्पष्ट होता गया कि लोकतन्त्र में धर्म और राज्य को एक दूसरे से अलहदा रखना आवश्यक है और लोकतन्त्र में जहाँ शासन के सूत्र बहुमत के प्रतिनिधियों द्वारा संचालित किये जाते हैं एक ओर तो यह आवश्यक है कि इस बहुमत का संगठन धर्म के आधार पर न होकर शुद्ध राजनैतिक विचार-धाराओं के अनुसार हो और दूसरी ओर यह भी उतना ही जरूरी है कि शासन में बहुमत के ये प्रतिनिधि सभी अल्पसंख्यक वर्गों के हितों को अपनी दृष्टि में रखें। लोकतंत्र एक ऐसा राज्य-तन्त्र है जिसका संचालन लोक-प्रतिनिधियों द्वारा तो होता है पर जिसका अन्तिम लक्ष्य किसी वर्ग-विशेष को, चाहे वह कितने ही बड़े बहुमत में हो, लाभ पहुँचाना न हो, समस्त जनता के अधिक से अधिक हित की वृद्धि करना है। गांधी-युग में जो प्रथम श्रेणी के राजनैतिक नेता सामने आए, उनमें से अधिकांश का सांस्कृतिक मूल्यों में बहुत अधिक विश्वास रहते हुए भी, वे सभी राजनीति को किसी भी धर्म अथवा संस्कृति से संबद्ध न करने के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। जिन लोगों का यह विश्वास बहुत अधिक दृढ़ नहीं था वे बाद मे सांप्रदायिक आन्दोलनों में भटक गए, पर १९२० के बाद से हमारी राजनीति का नेतृत्व जिन लोगों के हाथ में रहा है वे हिन्दू हों या मुसलमान, राजनीति को धर्म और संस्कृति से अलहदा रख कर

ही देखते आए हैं। महात्मा गांधी, चित्तरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, अबुल कलाम आज़ाद, जवाहरलाल नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद आदि ने अपने प्रयत्नों से देश में जिस राजनैतिक वातावरण की सृष्टि की है वह शुद्ध, भौतिक, लोकतंत्रीय राजनीति का वातावरण है, किसी प्रकार की धर्मांधता अथवा सांस्कृतिक दुराग्रह का उसमें कभी कोई स्थान नहीं रहा है।

भारतीय परिस्थियों को देखते हुए यही हमारे लिए सर्वश्रेष्ठ मार्ग हो भी सकता है। एक ऐसे देश में जहां शताब्दियों से विभिन्न धर्म और समाज एक दूसरे के साथ उदारतापूर्वक रहते चले आए हों और जहां, शासन-सूत्र चाहे हिन्दू शासक के हाथों में रहे हों अथवा बौद्ध या मुसलमान के, एकाध अपवाद को छोड़कर सभी धर्मों और जातियों के साथ सहिष्णुता का बर्ताव किया गया हो, अन्य संस्कृतियों के साथ समन्वय की भावना ही जिस देश की संस्कृति की विशेषता रही हो, बीसवीं शताब्दी के इस भौतिक, लोकतन्त्रीय युग में, संसार की सभी विचार-धाराओं से अपने को विच्छिन्न करके एक धार्मिक-राज्य-व्यवस्था, वह हिन्दू हो अथवा मुसलमान, की स्थापना की बात सोची ही नहीं जा सकती। इसके अतिरिक्त, हमारी राजनीति को तो विदेशी साम्राज्यवाद से संघर्ष लेना था, एक ऐसे साम्राज्यवाद से जिसकी प्रमुख नीति हममें फूट डालने की रही है, इस कारण यह और भी आवश्यक था कि हम अपने सभी आन्तरिक भेदभावों को भुला कर उस शक्ति के विरुद्ध जिसने हमें गुलामी में जकड़ रखा था एक संयुक्त मोर्चा खड़ा करें। गांधीजी के पहिले हमारी राजनीति की 'अपील' का आधार सांस्कृतिक था, गांधीजी ने उसके सांस्कृतिक मूल्यों की अवहेलना न करते हुए उसके राष्ट्रीय पक्ष पर जोर दिया। गांधीजी का विश्वास था देश के विभिन्न धर्म, समाज और संस्कृतियां अपनी विभिन्नता क़ायम रखते हुए भी राजनैतिक दृष्टि से एक हो सकते हैं, उन्होंने कभी इस दिशा में प्रयत्न नहीं किया कि हिन्दू अथवा मुसलमान अपनी धार्मिक विशेषताओं को खो दें अथवा अपने प्राचीन सामाजिक संगठनों की मर्यादाओं को तोड़कर, एक दूसरे में मिल जाएँ अथवा अपने धार्मिक विश्वासों को भुला कर एक 'राष्ट्रीय' धर्म की सृष्टि करें। वह चाहते थे कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों में दृढ़ होते हुए भी

दूसरे धर्मों के अनुयायियों के साथ स्नेह और सद्भावना से पेश आए और जहां तक राजनैतिक प्रश्नों का सम्बन्ध है एक दूसरे के साथ मिल-जुल कर काम करे। गांधीजी की राष्ट्रीयता की परिधि किसी एक धर्म, संस्कृति अथवा समाज-विशेष तक सीमित नहीं थी, उसमें तो हिन्दुस्तान में रहने वाले सभी धर्मों, संस्कृतियों और समाजों का मुक्त समावेश था। भारतीय राष्ट्र की उनकी जो कल्पना थी उसमें हिन्दू, मुसलमान, ख्रीस्ती, जैन, पारसी, यहूदी सभी के लिए स्थान था। राजनैतिक दृष्टि से एक दूसरे में भेदभाव नहीं किया जा सकता था। धर्म के आधार पर नागरिकता के अधिकारों में किसी प्रकार का अन्तर करने की गुंजाइश नहीं थी। राष्ट्रीयता की इस व्यापक परिधि में जहां एक ओर

पंजाब, सिन्ध, गुजरात, मराठा, द्राविड़, उत्कल, बंगा,
विंध्य, हिमालय, यमुना, गंगा उच्छल जलधि तरंगा

सभी का समावेश था, वहां दूसरी ओर

हिन्दू, बौद्ध, सिख, जैन, पारसिक, मुसलमान, ख्रिस्तानी
पूरब पश्चिम आसे, तव सिंहासन पासे, प्रेमहार हम गाथा

की कल्पना भी थी। बढ़ते हुए सांप्रदायिक विद्वेष के बावजूद भी राष्ट्रीयता की इस व्याख्या को तब तक किसी गंभीर चुनौती का सामना नहीं करना पड़ा जब तक कि मुस्लिम-लीग ने १९३९ के सिन्ध मुस्लिम-लीग के अधिवेशन में हिन्दू और मुसलमानों के दो अलहदा राष्ट्र होने की घोषणा नहीं कर दी और १९४० में मुस्लिम-लीग के लाहौर-अधिवेशन में इस सिद्धान्त के आधार पर देश के विभाजन की मांग सामने न रख दी गई।

हिंदू सांप्रदायिकता का उत्थान व पतन

हिन्दू समाज में सांप्रदायिकता के आधार पर राजनैतिक संस्थाओं का निर्माण लगभग उसी समय आरंभ हुआ जब मुस्लिम-समाज में इस प्रकार की प्रवृत्ति विकसित हो रही थी, हिन्दू महासभा की स्थापना और १९०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना के बीच समय का अधिक अन्तर नहीं है, पर मुस्लिम-लीग के समान ही हिन्दू महासभा का प्रभाव भी लगभग पच्चीस वर्षों तक

वहुत ही सीमित रहा। इसका प्रमुख कारण हिन्दू जनता में सांप्रदायिकता की कमी और उस पर कांग्रेस का वहुत अधिक प्रभाव था। हिन्दू-मुस्लिम दंगों के साथ हिन्दू-महासभा का प्रचार कुछ वढ़ा था पर तव भी अधिक प्रभाव उन नेताओं और संस्थाओं का था जिनका सीधा लक्ष्य शुद्धि और संगठन थे। चुनाव में हिन्दू महासभा कभी अधिक सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। १९३७ के वाद जव मुस्लिम-लीग का सांप्रदायिक प्रचार वढ़ा तव हिन्दू महासभा ने फिर हिन्दू जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। कांग्रेस द्वारा मैकडोनल्ड सांप्रदायिक-निर्णय को अप्रत्यक्ष रूप से स्वीकार किए जाने पर विशेष कर वंगाल में, हिन्दू जनता में कांग्रेस के विरुद्ध भावना वढ़ चली थी। इन्हीं दिनों हिन्दू महासभा को एक ऐसे व्यक्ति का नेतृत्व भी प्राप्त हुआ जो १८५७ के विद्रोह पर एक पुस्तक लिखने व क्रान्तिकारी आन्दोलन में प्रमुख भाग लेने के कारण प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। जेल से मुक्त होने के वाद श्री विनायक दामोदर सावरकर ने हिन्दू-संगठन को मजबूत वना देने का काम अपने हाथ में लिया और, संभवतः मुस्लिम-लीग के प्रचार के साधनों से प्रेरणा-प्राप्त करके उन्होंने हिन्दू जनता की भावना को अप्रत्यक्ष रूप से मुसलमानों और प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रवादी हिन्दुओं के विरुद्ध उभाड़ना आरम्भ कर दिया। श्री सावरकर के शब्दों में "हिन्दू संगठन कारियों को एक ओर तो करोड़ों सोते हुए हिन्दुओं की उपेक्षा का मुक़ाविला करना पड़ा और दूसरी ओर उन अर्द्ध-राष्ट्रीय हिन्दुओं के विश्वासघाती दृष्टिकोण का जो अपनी जाति को छोड़ कर दुनियाँ की सभी दूसरी जातियों के मित्र हैं और जो सदा ही हिन्दुओं के न्यायपूर्ण हितों के साथ विश्वासघात करने और मुसलमानों की राष्ट्र-विरोधी माँगों को भी पूरा करने के लिए तत्पर रहते हैं—केवल यह सिद्ध करने के लिए कि इन अर्द्ध-राष्ट्रीय व्यक्तियों की देशभक्ति, सीजरकी पत्नी के समान, सन्देह से ऊपर की वस्तु है।" यह स्पष्ट था कि सावरकर ने जो वर्ष जेल में विताए थे उन वर्षों में भारतीय राष्ट्रीयता का रूप वदल चुका था और उसका नेतृत्व भी दूसरे लोगों के हाथ में चला गया था और सावरकर की झुंझलाहट और रोष का उद्‌गम व्यक्तिगत निराशा की भावना में था। भाई परमानन्द और डॉ०

मुंजे आदि ने, जो अभी भी पुरानी विचार-धारा में ही डूबे हुए थे, सावरकर के नेतृत्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया, परंतु युद्ध के बाद कांग्रेस की विरोधी नीति ने जब अंग्रेजी सरकार को सांप्रदायिक संस्थाओं के साथ खुले समर्थन की नीति पर चलने पर विवश कर दिया और राजनैतिक विचार-विमर्षों में हिन्दु महासभा को निमंत्रित किया जाने लगा तब उसका नेतृत्व अधिक सुलझी हुई विचार-धारा रखने वाले डॉ. श्यामाप्रसाद मुकर्जी के हाथों में चला गया। परन्तु जून १९४५ के शिमला-सम्मेलन में राजनैतिक गत्यावरोध को ईमानदारी के साथ सुलझाने के अंग्रेजी राज्य के पहिले प्रयत्न में ही हिन्दू महासभा फिर उपेक्षा की दृष्टि से देखी जाने लगी। उसे शिमला-सम्मेलन में निमंत्रित नहीं किया गया। कांग्रेस को हिन्दू-हितों की शत्रु घोषित करके, सरकारी उपाधियों को लौटा देने की धमकी देकर व अन्य उपायों से हिन्दू महासभा ने अपने को राजनैतिक मंच पर रखने के अथक प्रयत्न किए, पर १९४६ के चुनावों ने यह प्रमाणित कर दिया कि हिन्दू जनता का समर्थन भी उसे प्राप्त नहीं है।

साम्प्रदायिकता का अंतिम और सबसे भयंकर उत्कर्ष

१६ मई १९४६ के दिन कैबिनट-मिशन द्वारा प्रकाशित घोषणा-पत्र में पाकिस्तान की मांग अव्यावहारिकता के आधार पर अस्वीकृत किए जाने के बाद से मुस्लिम-लीग ने मुसलमानों की धार्मिक भावना को तेजी से उकसाना शुरू किया। इन्हीं दिनों दिल्ली में मुस्लिम-लीग के नेताओं का जो कन्वेन्शन हुआ उसमें इस धर्मांधता को बहुत अधिक उभाड़ा गया और प्रत्येक सदस्य से कहा गया कि वह गंभीरता के साथ प्रतिज्ञा करे कि वह पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए चलाए जाने वाले आंदोलन के संबंध में मुस्लिम लीग द्वारा दिए गए आदेशों का बड़ी खुशी और हिम्मत के साथ पालन करेगा और उसमें किसी भी 'खतरे, इम्तिहान या कुर्बानी' का मुक़ाबिला करने में पीछे नहीं रहेगा, इस जिहाद का प्रारंभ १६ अगस्त १९४६ की उस 'सीधी कार्यवाही' से हुआ जिसने कलकत्ते की सड़कों को हिन्दू और मुसलमानों के ख़ून से रंग दिया।

कलकत्ते के बाद सांप्रदायिक हत्याकांड की लपटें नोआखाली और टिपेरा, बिहार और गढ़मुक्तेश्वर और पश्चिमी पंजाब में पहुँची और सारा देश सांप्रदायिक विद्वेष की ज्वालाओं में जल उठा, जिसे १५ अगस्त की महान् सत्ता, परिवर्त्तन की घड़ी जिसने हमें डेढ़ सौ वर्षों की अंग्रेजों की गुलामी से मुक्त किया था, और जो हमारे इतिहास की एक स्वर्णिम घड़ी थी, अपने समस्त महत्त्व के साथ भी बुझा नहीं सकी। नई मिलने वाली आजादी की चकाचौंध में हम एक क्षण के लिए तो इस जहर को भूल गए थे जो हमारे इस समस्त राष्ट्रीय जीवन की जड़ों में फैला हुआ था। हमारे नेताओं ने एक अभूत पूर्व भोलेपन के साथ यह कल्पना कर ली थी कि देश के विभाजन से सांप्रदायिक विद्वेष का अचानक अन्त हो जाएगा और तब स्वाधीनता के मुक्त वातावरण में हम दोनों संप्रदायों के बीच सद्भावना को स्थापित होते हुए देख सकेंगे। बात तर्क की दृष्टि से ठीक भी थी, पिछले कई वर्षों में मुसलमानों की सारी मांगें पाकिस्तान की एक मांग में केन्द्रित हो गई थीं। यह मान लेना हमारे लिए स्वाभाविक था कि पाकिस्तान प्राप्त कर लेने पर मुसलमान संतुष्ट हो जाएंगे। अन्तिम योजना पर मुसलमानों की स्वीकृति की मुहर भी थी। परंतु इस कल्पना के पीछे मनोवैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना थी। तर्क की दृष्टि से यदि मुसलमान इस प्रश्न पर सोचते तो अनिवार्यतः वे इसी परिणाम पर पहुँचते। परिस्थितियों के कारण, जिनमें उनका अपना त्याग अथवा बलिदान बिल्कुल भी नहीं था, भारतीय मुसलमानों के हाथ में एक ऐसे राज्य की सार्वभौम सत्ता सौंप दी थी जिसका विकास मुसलमानों के सबसे बड़े और संसार के पांचवें बड़े देश के रूप में किया जा सकता था और यह असंदिग्ध तथ्य था कि इस विकास की पहिली शर्त्त देश में आन्तरिक शान्ति और पड़ोसी देश, हिन्दुस्तान के साथ मैत्री की भावना थी। परंतु क्या करोड़ों धर्मांध, बे पढ़े लिखे मुसलमानों से जिनकी भावनाओं का एकमात्र उपयोग अब तक राजनैतिक क्रय-विक्रय में किया जाता रहा था, इस प्रकार के रचनात्मक चिन्तन की आशा की जा सकती थी? और फिर, मुसलमानों के पास तो इस प्रकार का तर्क करने के लिए गुंजाइश भी थी, क्योंकि उन्हें अपना अभीप्सित लक्ष्य प्राप्त हो गया था, हिन्दू

किस प्रकार अपने 'अखण्ड हिन्दुस्थान' के स्वप्न का, बिना भावना के किसी उद्वेलन के, अपने सामने टूटते हुए देख सकते ? स्वतन्त्रता मिली थी, वह तो बाद में अनुभव करने की चीज थी । सामने तो देश के टुकड़े हो रहे थे और दोनों सीमाओं के उस पार बिना किसी त्याग और तपस्या के बिना किसी संघर्ष और बलिदान के, मुसलमान अपनी विजय का उद्घोष कर रहे थे, पाकिस्तान को एक मुस्लिम राज्य बनाने के स्वप्न अभी से उनकी आंखों के सामने तैरने लगे थे और उनमें से कुछ मूर्ख, मनचले और कट्टर नौजवान अपने पागल जोश में यह नारा भी लगा उठते थे—"हँस के लिया है पाकिस्तान, लड़ के लेंगे हिन्दुस्तान" । मुस्लिम धर्मांधता के आधार पर बनने वाले पाकिस्तान की प्रतिक्रिया के रूप में हिन्दू धर्मांधता का विकास स्वाभाविक था ।

सांम्प्रदायिक भावना की इस बाढ़ को दो कारणों से विशेष बल मिला । एक तो जगह जगह पर शरणार्थियों का फैल जाना था । शरणार्थी अपने साथ पाकिस्तान की लोम हर्षक घटनाओं की तीखी स्मृतियां लाए थे और मुसीबत से गुज़रे हुए किसी भी व्यक्ति की घटनाओं को बढ़ा चढ़ा कर सुनाने की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है वह उनमें काफी मात्रा में थी । बहुत से शरणार्थी अपना सर्वस्व खोकर आए थे । अधिकांश के कुटुम्ब के बहुत से लोग मारे जा चुके थे और कुछ तो बड़ी कठिनाई से केवल अपने प्राण लेकर ही पाकिस्तान से निकल सके थे । रास्ते में उन्हें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था । कड़वाहट की भावना उनके मन में थी । जिन लोगों के वे संपर्क में आए उनमें भी इस प्रकार की भावना फैली । हिन्दुओं में पाकिस्तान के बन जाने पर मुसलमानों के प्रति पहिले से कटुता बढ़ गई थी । शरणार्थियों की सुनाई हुई कथाओं ने उसे और भी प्रज्वलित कर दिया । इसके अतिरिक्त, बँटवारे के बाद, देश के दोनों भागों में पुलिस और फ़ौज का संगठन भी साम्प्रदायिता के आधार पर हो गया था । इसका परिणाम यह हुआ कि जब कभी भी दंगे हुए तब दोनों ही जगह, आक्रमण कारियों का, जो प्रायः उसी जाति और धर्म के मानने वाले थे जो पुलिस और फौज के लोगों का जाति और धर्म था, सख्ती

से मुकाबिला करने के बदले उनके साथ पक्षपात का वर्त्ताव किया गया और जिन्हें मदद की ज़रूरत थी उन्हें समय पर और आवश्यक मदद नहीं पहुँचाई गई। दोनों ही प्रदेशों में, पाकिस्तान में शायद कुछ कम और हिन्दुस्तान में शायद कुछ ज्यादा, कोशिश बड़े अफ़सरों द्वारा इस सांप्रदायिक पक्षपात को रोकने के लिए की गई, पर उसमें विशेष सफलता नहीं मिली। सत्ता-परिवर्त्तन के दिनों में पूर्वी-पजाव में कुछ दिनों ऐसी स्थिति रही जब पुराना शासन तो समेट लिया गया था पर नए शासन की स्थापना नहीं हो सकी थी। अनिश्चय की इस स्थिति से लाभ उठा कर प्रतिहिंसा की भावना में जलते हुए पूर्वी पंजाब के उन हिन्दुओं और सिखों ने जो मार्च अप्रैल के के दंगों में पश्चिमी पंजाब में अपना सब कुछ खोकर आए थे, मुसल्मानों पर भी वैसे ही अत्याचार करने शुरू किए, और जब उनकी खबरें पश्चिमी पंजाब और पाकिस्तान के दूसरे भागों में पहुँची, जहां हिन्दुओं के प्रति घृणा का प्रचार इन दिनों चरम सीमा पर था और अपनी स्थिति को मजबूत बनाने के लिए मुस्लिम लीग के कुछ प्रमुख नेता भी उसमें हिस्सा ले रहे थे, वहां स्वभावतः ही उसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई और पाकिस्तान में होने वाली घटनाओं का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुस्तान में, विशेष कर दिल्ली और उसके आस पास के प्रदेशों में, मुसल्मानों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया।

हिन्दू राज्य की कल्पना का विकास

इस विषैले वातावरण में हिन्दू राज्य की कल्पना का विकास हुआ। बहुमत होने के नाते इस देश में हिन्दुओं को ही शासन करने का अधिकार था, यह विचार हिन्दू महासभा के प्रमुख नेताओं द्वारा वर्षों से दोहराया जा रहा था। भाई परमानन्द के शब्दों में मुसल्मान "हमारे ही देश में हमारे ही आदर्शों के शत्रु" के रूप में थे। डॉ० मुंजे के शब्दों में "प्रत्येक देश में सदा ही बहु-संख्यक वर्ग का यह अधिकार होता है कि वह स्वराज्य की स्थापना करे, और अपनी ही राष्ट्रीयता का निर्माण करे, आन्तरिक शांति और व्यवस्था बनाए रखे और बाहरी आक्रमणों से 'स्वराज्य' की रक्षा करे।" महासभा के अमृतसर—

में मनाए जाने वाले रजत-जयन्ती के अवसर पर डॉ० मुंजे ने स्पष्ट शब्दों में इस बात की घोषणा की कि हिन्दुस्तान हिन्दुओं का देश है और उसके विधान का आधार वेदों में होना चाहिए जैसा कि अरब देश क़ुरान को अपने विधान का आधार बनाना चाह रहे थे। सांप्रदायिकता के आधार पर देश का बँटवारा हो जाने के बाद और पाकिस्तान में बार बार इस बात की घोषणा होते रहने के बाद कि वह मुस्लिम राज्य है और उसका विधान क़ुरान और इस्लामी धर्म-ग्रंथों के आधार पर बनेगा, हिन्दुस्तान में इस प्रकार के विचार का फैलना अनिवार्य हो गया था। विद्वानों पर भी इस विचार-धारा का प्रभाव पड़ने लगा था, इसका प्रमाण पूना की गोखले-इंस्टीट्यूट के श्री गाडगिल द्वारा इन्हीं दिनों दिया गया वह वक्तव्य है जिसमें उन्होंने हिन्दुस्तान के हिन्दू-धर्म और संस्कृति के आधार पर हिन्दू राज्य के रूप में संगठित किए जाने का समर्थन किया था। यह सब होते हुए भी इस कल्पना के व्यावहारिक जगत में आने की कोई संभावना नहीं थी यदि फ़ासिज्म विचार-धाराओं पर संगठित और विकसित एक विशेष संस्था इसे अपने राजनैतिक लक्ष्य का मुख्य आधार न बना लेती और इस कल्पना के नाम पर कांग्रेस के नेताओं और कांग्रेस सरकार के विरुद्ध घृणा के भाव फैलाने के काम में न जुट पड़ती।

हिन्दू राज्य की कल्पना का अपनी राजनैतिक शक्ति बढ़ाने की दिशा में सबसे अच्छा उपयोग राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के द्वारा किया गया। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का जन्म नवयुवकों में अनुशासन की भावना उत्पन्न करने और उनके शारीरिक गठन पर जोर देने के उद्देश्य से कई वर्ष पूर्व हुआ था। एक लंबे अर्से तक उसका कार्य क्षेत्र महाराष्ट्र तक ही सीमित रहा। महाराष्ट्र में वह हिन्दू 'स्वराज्य' की कल्पना और स्मृति को जीवित रखे रहा और शिवाजी और अन्य राष्ट्रीय वीरों के प्रति नवयुवकों में श्रद्धा की भावना विकसित करने की दिशा में काम करता रहा। शारीरिक व्यायाम आदि के प्रचार में भी उसने बड़ा उपयोगी काम किया। परंतु, उसमें धीरे धीरे फ़ासिस्ट मनोवृत्ति का भी विकास हो रहा था। 'एक नेता और एक पथ' के सिद्धान्त और अनुशासन की आवश्यकता पर प्रारम्भ से ही ज़ोर दिया जा रहा था। संघ का काम बहुत

कुछ गुप्त रूप से किया जा रहा था और उसकी आन्तरिक मंत्रणाओं में विश्वसनीय और परीक्षित व्यक्ति ही भाग ले सकते थे। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने के बाद संघ के कार्य का विस्तार फैला और उसमें नए प्रश्नों का संचार हुआ। इन्हीं दिनों मुसलमानों में खाकसार आन्दोलन बहुत प्रबल हो रहा था। उसके निर्माण, विकास और संगठन पर इटली और जर्मनी की फासिस्ट कार्य-पद्धति की स्पष्ट छाप थी। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने भी अपने लिए वही मार्ग चुना। परंतु संघ ने प्रदर्शन पर कभी उतना ज़ोर नहीं दिया जितना ख़ाकसार दल के द्वारा दिया जा रहा था। अल्लामा मशरिक़ी के अनिश्चित, भावना शील और विवेक शून्य नेतृत्व ने कई मौक़ों पर ख़ाकसारों को सक्रिय राजनीति में ठेल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि युद्ध आरंभ हो जाने पर सरकार को उसे कुचल देने का अवसर मिल गया, पर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने अपने को सदा ही सरकार से किसी सीधे संघर्ष से बचा रखा और सांस्कृतिक कार्यों के नाम पर वह अपने आपको मज़बूत बनाता रहा। उसमें काम करने वाले अधिकांश व्यक्ति भी ऐसे ही थे जिनमें राजनैतिक चेतना, विशेष कर विदेशी शासन से संघर्ष की भावना बहुत कम थी।

१९४२ के आंदोलन से भी अपने को 'राष्ट्रीय' कहने वाली इस संस्था ने अपने को बिल्कुल अलहदा रखा। इसके उद्देश्य स्पष्टतः सांस्कृतिक थे और उनसे अन्ततः सांप्रदायिकता की भावना को पुष्टि मिलती थी, इस कारण सरकार ने उसे दबाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। युद्ध के दिनों में भी संघ के सदस्य अपनी अन्तरंग बैठकों और प्रत्येक नगर, और बहुत से गांवों में भी, झंडा-वन्दन और शारीरिक व्यायामों और खेलों के कार्य क्रमों को चलाते रहे। १९४२ का आंदोलन दब जाने के बाद संघ ने अपनी प्रवृत्तियों को और भी बढ़ाया। '४२ के आन्दोलन को मुस्लिम-लीग द्वारा मुस्लिम-विरोधी घोषित किया गया था, और मुसलमान उससे प्रायः तटस्थ ही रहे थे इसके कारण हिन्दुओं में जो क्षोभ बढ़ता जा रहा था संघ के नेताओं ने उसका भी पूरा उपयोग किया। बहुत से नवयुवक जिन्हें अब किसी राजनैतिक आन्दोलन में शामिल होने का अवसर नहीं मिल रहा था संघ की बैठकों, प्रवचनों और व्यायामों में शरीक

होने लगे और इस प्रकार कांग्रेस के राजनैतिक मंच पर लौटने तक राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने अपने को एक शक्तिशाली संस्था बना लिया था और देश के राजनैतिक दृष्टि से पिछड़े हुए भागों, देशी रियासतों आदि, में और समाज के भावनाशील वर्ग, विशेष कर नव युवकों में, अपने लिए एक प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी। १६४५-४६ के राष्ट्रीय पुनरोत्थान से संघ की प्रवृत्तियाँ कुछ समय के लिए शिथिल पड़ीं पर देश के विभाजन के बाद साम्प्रदायिकता की जो नई और अभूतपूर्व आँधी उठी उसका लाभ उठा कर संघ की विचार-धारा और उसकी शाखाएँ देश में दूर दूर तक फैल गईं। संघ का प्रभाव प्रारंभ में अध कचरे नवयुवकों तक ही सीमित था, पर १६४७ का अन्त होते होते पढ़े लिखे, समझदार और अनुभवशील व्यक्तियों के मन में भी उसके प्रति आदर का भाव बनने लगा था। अगस्त और उसके बाद के महीनों में पूर्वी पंजाब आदि में संघ के कार्य कर्त्ताओं ने हिन्दुओं को बचाने और उससे भी अधिक मुसलमानों को मारने-काटने, उनके घर बार लूटने-जलाने और उनकी स्त्रियों को वेइज्जत करने में जो भाग लिया देश के उस समय के वातावरण में उसने संघ की लोकप्रियता को और भी बढ़ा दिया। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने एक निश्चित योजना के अनुसार सरकारी विभागों और नौकरियों में महत्त्व के स्थलों पर अपने विश्वस्त व्यक्ति रखने शुरू कर दिये। डाक, तार, रेल, पुलिस, फौज आदि सभी विभागों में ऐसे लोगों का एक सक्रिय दल था जो या तो राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ के सदस्य थे या उसकी विचार धारा से खुली सहानुभूति रखते थे।

हिन्दू राज्य की कल्पना ने हिन्दू फ़ासिज़म के उपकरणों में एक आवश्यक उपकरण की कमी को पूरा कर दिया। फ़ासिज़म में जहां भावनाओं का एक प्रबल अंधड़ चलता रहता है वहाँ एक घृणित, अस्पष्ट पर आकर्षक लक्ष्य भी सामने रहता है। हिन्दू राज्य की कल्पना ने हिन्दू सांप्रदायिकता वादियों को वैसा ही एक लक्ष्य दे दिया जैसा जर्मनी के नॉर्डिक-आर्यो द्वारा संसार पर प्रभुत्व का अथवा इटली वासियों द्वारा रोमन साम्राज्य की पुनः स्थापना का लक्ष्य नात्सियों और फ़ासिस्टों के सामने था अथवा जैसा मुसलमानों द्वारा

पाकिस्तान के निर्माण का लक्ष्य मुस्लिम-लीग द्वारा उपस्थित किया गया था हिन्दू राज्य की कल्पना में हमारी समस्त घृणा और हमारे समस्त आवेश को एक व्यापक और सबल आधार मिल गया था। एक उपर्युक्त वातावरण में प्रायः सभी वर्गों के व्यक्तियों द्वारा उसे समर्थन मिला। हिन्दू राज्य का आदर्श जन साधारण को रुचने वाला आदर्श था और अर्द्ध-विकसित मस्तिष्क और शीघ्र उद्वेदित हो जाने वाली भावनाओं वाले नवयुवकों के लिए तो वह विशेष रूप से आकर्षक था। सांप्रदायिकता की जो भावनाएँ देश में तेजी के साथ फैलती जा रही थीं, इस कल्पना ने उन्हें एक निश्चित लक्ष्य की ओर प्रेरित कर दिया था। परंतु मैं समझता हूँ कि इस कल्पना का जन्म जहाँ जन साधारण की भावना में हुआ उसे विकास पहुँचाने वाली दूसरी प्रवल शक्तियाँ भी थीं। जिन स्थिर स्वार्थों को नए बनने वाले जन तंत्र से खतरा था—और इससे राजा महाराजा, सेठ-साहूकार, पूंजीपति और पूंजीपति व्यवस्था पर निर्भर रहने वाला बौद्धिक वर्ग, सभी शामिल थे, उनकी ओर से भी इस विचार-धारा को निश्चित रूप से समर्थन मिल रहा था। जनतंत्रीय सरकार तो अभी अपने को मजबूत नहीं बना पाई थी, इस कारण स्थिर स्वार्थों को अब भी यह आशा थी कि यदि उसकी स्थिति को खतरे में डाल दिया जाए तो अपने अस्तित्व को वे शायद बचा न सकें। इन फ़ासिस्टी शक्तियों के सामने मुख्य लक्ष्य यह था कि सरकार और उसके संचालकों की प्रतिष्ठा को गिराया जाए। भारतीय सरकार जनता में तेज़ी से बढ़ती हुई सांप्रदायिक भावनाओं के बावजूद भी बड़ी दृढ़ता से अपने विशुद्ध लोकतंत्रीय शासन के आदर्श पर जमी रही और जनमत की पर्वाह न करते हुए बार बार इस बात की घोषणा की कि वह कभी भी अपने नागरिकों के बीच धर्म अथवा जाति के आधार पर किसी प्रकार का भेद भाव करने के लिए तैयार नहीं है। दिल्ली में वातावरण जब सबसे अधिक विशुद्ध था, प्रधान-मन्त्री जवाहरलाल नेहरू स्वयं अपने को ख़तरे में डाल कर भी अल्पसंख्यकों को बचाने के प्रयत्न में लगे रहे। सितम्बर में दिल्ली और उसके आस पास जो कुछ हुआ उसके पीछे निःसंदेह एक बड़ा षड्यन्त्र काम कर रहा था जिसमें कई राजा-महाराजा और अनेकों

पूंजीपति और बहुत से सन्यासी और धार्मिक नेता शामिल थे । जनता की आंखों में धूल झोंकने के लिए अफ़वाह फैला दी गई कि दिल्ली के मुसलमान राजधानी पर क़ब्ज़ा करने और उसे पाकिस्तान में मिला देने के प्रयत्न में लगे हुए हैं, जबकि सचाई शायद यह थी कि हिन्दू सांप्रदायिकता-वादी राष्ट्रीय सरकार को हटा कर उसके स्थान पर प्रतिक्रिया वादियों की एक तानाशाही सरकार स्थापित करना, और हिन्दुस्तान को एक हिन्दू राज्य घोषित कर देना चाहते थे । सितंबर १९४७ में सरकार की स्थिति सचमुच ही डॉवाडोल होगई थी परंतु आदर्श पर निर्भीकता से जमे रहने के उसके दृढ़ निश्चय ने उसे परिस्थितियों पर नियंत्रण पालने में सफ़ल बनाया ।

इस षड़यन्त्र के असफल हो जाने से इन सांप्रदायिकतावादी फ़ासिस्टों को बड़ी निराशा हुई, परन्तु उन्होंने दुगुने जोश के साथ अपने निम्न और स्वार्थी राजनैतिक प्रयत्नो को जारी रखा । शरणार्थियों की दुःख-कथाओं को आधार बना कर उन्होंने सांप्रदायिक भावनाओं की ज्वाला को प्रज्वलित रखा और सरकार द्वारा किया जाने वाला अथवा न किया जाने वाला जो भी काम उन्हें मिला उसके आधार पर उन्होंने सरकार की आलोचना करना शुरू कर दी । कोई भी जनतंत्रीय सरकार इस प्रकार की आलोचना को कुचलने के लिए आसानी से तैयार नहीं होती, इसलिए कांग्रेस ने भी इस दिशा में कोई बड़ा सक्रिय क़दम नहीं उठाया परन्तु सरकार की ओर से जितनी नरमी दिखाई गई इन लोगों ने उसे कमज़ोरी का द्योतक माना और यह प्रचार किया कि सरकार निर्बल और निःशक्त है । कोई भी हथियार सरकार के खिलाफ़ प्रयोग किए जाने से उठा नहीं रखा गया । यदि सरकार चुप रहती थी तो यह घोषणा की जाती थी कि वह कमज़ोर है और जब कभी सरकार ने इस प्रकार की प्रवृत्तियों को दबाने के लिए कोई हल्का-सा क़दम भी उठाया तो यह शोर मचाया जाता था कि हमारी सरकार यद्यपि दावा तो जनतंत्रीय होने का करती है परन्तु अपने राजनैतिक विरोधियों को दबाने में उन साधनों का अवलंबन करने में भी नहीं हिचकिचाती जिन्हें पहिले की विदेशी हुकूमत काम में लाती थी । और यह तब था जब कि कांग्रेस की सरकार ने थोड़े से महीनों में और

अधिक से अधिक विषम परिस्थितियों के होते हुए भी इतने वड़े काम कर लिए थे जो इतने कम समय में कोई भी सरकार शायद ही कर पाती। लगभग पचास लाख शरणार्थियों को पाकिस्तान से हिन्द लाना और लगभग उतने ही मुस्लिम शरणार्थियों को हिन्द से पाकिस्तान पहुँचाना कोई साधारण काम नहीं था। इसके साथ ही शासन-तंत्र के अभ्यांतर में और सैनिक विभागों में वहुत वड़े वड़े परिवर्त्तन करना पड़े थे। देशी रियासतों की जटिल समस्या भी वड़े शान्त और व्यावहारिक रूप में और वड़ी अभूतपूर्व सफलता के साथ सुलझाई जा रही थी। इस सवके होते हुए भी काश्मीर की हरी भरी घाटी पर खूँख्वार कवाइलियों द्वारा आक्रमण और पाकिस्तान द्वारा उसका अप्रत्यक्ष समर्थन किए जाने से एक नई समस्या खड़ी हो गई थी और क्योंकि इस समस्या के कई अन्तर्राष्ट्रीय पहलू भी थे उसके सुलझाने में वड़ी दूरदर्शिता और राजनैतिक सूझवूझ और संयम की आवश्यकता थी। एक ऐसे समय में जव देश की समस्त शक्तियों को हमारी नवजात राष्ट्रीय सरकार के निष्ठापूर्ण समर्थन में लग जाना आवश्यक था सरकार कड़वी से कड़वी आलोचना और घृणित से घृणित प्रचार का लक्ष्य वनी हुई थी। १९४७ के अन्तिम महीनों और १९४८ के प्रारम्भिक सप्ताहों में ट्रामों, वसों, रेलों और वाजारों में सव कहीं नेहरू सरकार की आलोचना ही सुनने को मिलती थी। और आलोचना की यह भावना केवल जन-साधारण में ही फैली हुई नहीं थी, ऊँचे नीचे सभी प्रकार के राजकर्मचारियों में और पुलिस और फ़ौज तक में फैली हुई थी। इस प्रकार हमारे देश में वे सव तत्त्व और उपकरण एकत्रित हो गए थे जो एक फासिस्टी राज्यक्रांति के लिए अनिवार्य होते हैं। जनता को आकर्षित करने वाला, एक अस्पष्ट पर चमकीला आदर्श था—हिन्दू राज्य की स्थापना का। वातावरण एक व्यापक और तीव्र प्रतिहिंसा की भावना से लवरेज़ था—मुसलमानों के विरुद्ध। और एक सुसंठित नेतृत्व के अनुशासन में, जो सत्य और असत्य, हिंसा और अहिंसा, पाप और पुण्य, ईमानदारी और फ़रेव के वीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं मानता था और जिसका एकमात्र लक्ष्य राज्य-सत्ता को अपने हाथ में लेना था, एक अर्द्ध-सैनिक ढंग पर व्यवस्थित एक

ऐसा विशाल युवक-संघटन था जो इशारा मिलते ही उस क्रांति को प्रज्वलित कर देने के लिए तैयार था, वल्कि बेचैनी से उस इशारे की प्रतीक्षा कर रहा था।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की विचारधारा और फासिज्म

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेताओं ने बारबार इस बात की घोषणा की है कि वह एक फ़ासिस्ट संस्था नहीं है, "जिन लोगों के मस्तिष्क विदेशी तत्त्व-ज्ञानों से प्रभावित हो चुके हैं, उनका कहना है, उन्हें अपने देश की सब बातों में किसी न किसी विदेशी विचार-प्रणाली की गंध अवश्य आती है। इसी कारण राष्ट्रीय स्वय सेवक संघ को फ़ासिस्ट संस्था कहने की अज्ञता की जाती है, संघ के ऊपर फ़ासिस्टवाद का आरोप करने वालों को यह बिल्कुल मालूम नहीं कि संघ क्या है,......एक कार्यपद्धति, एक अनुशासन, एक ध्वज और एक नेता तो किसी भी संगठन के लिए आवश्यक हैं। यदि यही फासिस्टवाद का द्योतक है तो देश की सभी संस्थाऐं फासिस्ट है।......हिन्दू जाति को वर्तमान पतन से ऊपर उठाने के लिए उसके प्राचीन जीवन की श्रेष्ठता का आदर्श रखना क्या फ़ासिस्टवाद का द्योतक है? ......यदि यह कार्य फ़ासिस्ट है तो संसार की सभी जातियां तथा राष्ट्र फ़ासिस्ट हैं।"१ यह भी कहा जाता है कि "संघ इटली अथवा जर्मनी का ही नहीं वरन् अमरीका और रूस का भी अनुकरण करना नहीं चाहता। संघ के आदर्श जिस प्रकार हिटलर और मुसोलिनी नहीं, उसी प्रकार स्टालिन और लेनिन भी नहीं। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ अपने राष्ट्र का निर्माण अपनी ही प्रकृति के आधार पर करना चाहता है। प्रत्येक राष्ट्र की एक प्रकृति होती है और भारत की भी एक प्रकृति है जो उसकी संस्कृति और परंपरा के कारण उसे प्राप्त हुई है। हम उसी के आधार पर अपने राष्ट्र-जीवन की रचना करना चाहते हैं।"२ इन शब्दों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर फ़ासिस्ट होने के इल्जाम का मौखिक विरोध होते हुए भी संघ की उन प्रवृत्तियों को स्वीकार किया गया है जो प्रायः प्रत्येक देश में फ़ासिज़्म के विकास में सहायक

होती हैं।

एक उग्र राष्ट्रीयता, जिसमें अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को सबसे विशिष्ट और श्रेष्ठ मान लिया जाता है स्वयं अपने आप में चाहे फ़ासिस्ट न मानी जा सके परन्तु वह सदा ही इस प्रकार की विचार-धारा के विकास के लिए एक मज़बूत आधारशिला का काम किया करती है, इटली जर्मनी और जापान जहाँ कहीं भी फ़ासिज़्म का विकास हुआ उसके मूल में अपने देश और संस्कृति अपनी जातीयता को सर्वश्रेष्ठ मान लेने का आग्रह प्रमुख था, और उसे स्थापित करने के लिए प्रायः इतिहास को भी तोड़ने-मरोड़ने का प्रयत्न किया गया था। इटली में देश के आधुनिक इतिहास को प्राचीन रोमन-साम्राज्य से सबंद्ध किया गया। वहाँ के इतिहासकारों ने इस बात पर ज़ोर दिया कि रोम के पतन के बाद से ही यूरोप में अराजकता शुरू हुई। मध्ययुग के विग्रह-शील काल से गुज़रती हुई फ्रांस की राज्यक्रान्ति और जनतन्त्र के विचार के उदय तक यूरोप की सभ्यता अपने निम्नतम स्तर तक जा पहुँची। व्यक्तिगत अधिकारों का जनतन्त्रीय सिद्धान्त राज्य के सर्वाधिकार को, जो एक रोमन विचार था, हटा देने में सफल हुआ, अब इटली पर सभ्यता के जीर्णोद्धार का उत्तरदायित्व एक बार फिर आ गया था। फ़ासिज़्म उसे पूरी तौर से निभाने के लिए कटिबद्ध था। उसका लक्ष्य था "इटली की विचार-धारा को राजनैतिक सिद्धान्तों के क्षेत्र में उसकी प्राचीन परंपराओं से, जो रोम की परंपराएँ हैं, संबद्ध कर देना।" जर्मनी में राष्ट्रीयता को देश की भौगोलिक सीमाओं से नहीं जातीयता की भावनाओं से संबद्ध किया गया। उसमें जाति की दृष्टि से धर्म, नैतिकता, कला आदि को देखने का प्रयत्न किया गया। जर्मनी ने इतिहास में जो कुछ किया वह महान् था। संसार ने अब तक जीवन के किसी भी क्षेत्र में जो भी प्रगति की है वह सब आर्य-जाति के नेतृत्व में, और इस आर्य-जाति का सर्व श्रेष्ठ रक्त जर्मनी के लोगों में पाया जाता है। नात्सी जर्मनी के राष्ट्र-गीत में *Dentschland neber alles* शब्दों से यह स्पष्ट

१ राष्ट्रधर्म (मासिक), कार्तिक, २००४, पृ० १४४

२ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० १४४

है कि वह जर्मनी को न केवल सर्व प्रथम स्थान ही देते थे पर जर्मनी को अन्य सभी वस्तुओं पर भी तरजीह देते हैं। जर्मन जातीयता को सर्व श्रेष्ठता घोषित करने वाले पहिले व्यक्ति जिसने उसे वैज्ञानिक रूप देना चाहा था, चैम्बरलेन के शब्दों में, समस्त योरोपीयन संस्कृति अन्ततः जर्मन थी और जर्मन आर्य और सभी जातियों से श्रेष्ठ हैं, इस कारण उन्हें ही—"संसार का स्वामी बनने का अधिकार है।" इस सिद्धांत को चरम-सीमा तक ले जाने वाले रौज़न वर्ग की धारणा थी कि जाति एक आत्मा (*"Soul of Race"*) होती है और प्रत्येक जाति की अपनी भिन्न आत्मा होती है। "आत्मा का अर्थ ही जाति का आन्तरिक रूप, और इसी प्रकार जाति आत्मा का बाहरी रूप होती है। जाति की आत्मा को प्राणदान देने का अर्थ है उसके महत्त्व को पहिचान लेना और जीवन के सभी मूल्यों को उसके अन्तर्गत राज्य-कला अथवा धर्म में एक जीवित स्थान देना। हमारी शताब्दी का यही मुख्य कार्य है : एक नए जीवन-स्वप्न में से एक नए मानव का निर्माण करना।······प्रत्येक जाति की अपनी आत्मा होती है और प्रत्येक आत्मा एक जाति की संपत्ति है······प्रत्येक जाति समय पाकर अपने एक ऊँचे आदर्श का निर्माण करती है······इस ऊँचे मूल्य की यह मांग होती है कि जीवन के सभी दूसरे मूल्यों को उसके अन्तर्गत माना जाए। वह एक जाति एक समाज, के जीवन की दिशा का निर्णय करती है।" नात्सी नेताओं का विश्वास था कि इन सभी जातियों में नौर्डिक-ट्यूटन जर्मन जाति सर्व श्रेष्ठ है।" नौर्डिक जाति के स्वभाव में वीरता और आज़ादी का प्रेम है, ट्यूटन लोगों ने ही संसार को विज्ञान और शोध की कल्पना दी है, और यह एक निर्विवाद तथ्य है कि नौर्डिक निष्ठा और सचाई में सबसे श्रेष्ठ हैं।······ इसमें भी संदेह नहीं कि नौर्डिकों ने अन्य सभी जातियों से पहिले, योरोप में सच्ची संस्कृति को जन्म दिया। बड़े बड़े वीर पुरुष, कलाकार, राज्यों की नींव डालने वाले व्यक्ति नौर्डिक जाति की ही संतान रहे हैं······" नात्सी जर्मनी के सबसे लोक-प्रिय गीत की मुख्य पंक्ति यह थी—"आज जर्मनी हमारा है, कल हम संसार के मालिक बनेंगे।" जापान में तो इस प्रकार के विश्वास को खुले आम अभिव्यक्ति दी जाती थी, सम्राट हिरोहितो के शब्दों में,

"हमारे राज्य की नीव डालने वाली सम्राज्ञी और हमारे दूसरे पूर्वज सम्राटों से हमें यह महान् आदेश विरासत में मिला है कि हमारे महान् नैतिक कर्त्तव्य का विस्तार सभी दिशाओं में हो और समस्त संसार एक ही शासन के अन्तर्गत लाया जाए। इसी दृष्टिकोण पर चलने का प्रयत्न हम दिन-रात करते रहते हैं।" विदेश-मंत्री ने 'हक्को इच्यु' के इस जापानी आदर्श को और भी स्पष्ट शब्दों में रखा, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि देवताओं की ओर से जापान को जो महान् कर्त्तव्य सौंपा गया है वह मानवता की रक्षा का कर्त्तव्य है, उस महान् लक्ष्य को सामने रखते हुए, जो साम्राज्य की स्थापना करते समय सम्राट् जिम्मू के सामने था, जापान को समस्त महाद्वीप का शासन एक व्यापक रूप में अपने हाथ में ले लेना चाहिए, 'हक्को इच्यु' (जिसका अर्थ है कि सारा संसार एक कुटुम्ब है) और सम्राट के जीवन-दर्शन का प्रचार करना चाहिए और तब उसे सारे संसार में फैला देना चाहिए।"

सांस्कृतिक अहमन्यता

राष्ट्रीय संस्कृति की सर्व श्रेष्ठता मान कर सभी देशों के फ़ासिस्ट आंदोलनों ने इतिहास को एक रंग में रंगना चाहा है, जिसमें यह बताया गया है कि देश का पतन तभी से प्रारंभ हुआ जब से उसने 'अपनी', स्वकीया संस्कृति को छोड़ दिया और 'अन्य', परकीया, संस्कृतियों के प्रभाव में अपने को आने दिया, और उन सभी आंदोलनों का लक्ष्य यह रहा है कि उस 'अपनी' लुप्त संस्कृति को फिर से जीवित और अनुप्राणित किया जाए और उसके आधार पर समस्त राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण किया जाए, जिससे यह राष्ट्रीय जीवन एक नई प्रेरणा, एक नई शक्ति, लेकर एक बार फिर संसार में अपनी सर्व श्रेष्ठता की स्थापना करसके। एक बात जो इन सभी विचार-धाराओं में सामान्य है वह यह है कि संस्कृति के इस जीर्णोद्धार के प्रयत्नों में सामर्थ्य की भावना और शक्ति प्रयोग पर अनवरत रूप से ज़ोर दिया गया है। राष्ट्रीय-स्वयं सेवक के 'गुरूजी' के शब्दों में "अपने जीवन, अपनी संस्कृति और अपनी परंपरा के सर्व-साधारण प्रज्ञ जनता के सामने दीपस्तंभ के समान खड़े होकर अपने जीवन में

उस दिव्य-संस्कृति को चरितार्थ करते हुए प्रत्यक्ष चलता-फिरता रूप खड़ा करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों की अनादिकाल से चली आने वाली परंपरा का प्रारंभ से आज तक जिसमें हमारे समाज ने अपना जीवन व्यतीत किया उस भारतीयत्व की परंपरा का—तथा उस परम्परा की—राष्ट्रात्मा की—रक्षा करते हुए समाज में अपने पन की श्रद्धा को जागृत रखने वाली परंपरा—का प्रेम ही हमारे कार्य का अधिष्ठान है। इस महान् परंपरा के प्रतीक, अति पवित्र, भगवान से प्राप्त स्वर्ण-गैरिक भगवद्ध्वज को सुरक्षित तथा सम्माननीय रखने के लिए एक-एक संघर्ष में लाख-लाख बलिदान करने में भी जो समाज हिचकिचाया नहीं, दुनियां में हिन्दू नाम से विख्यात उस समाज के प्रति स्वाभाविक और आवश्यक निःस्वार्थ, शुद्ध जीवन एवं प्रेम का भाव ही संघ के कार्य का अधिष्ठान है,······भारत में प्राचीन हिन्दू संस्कृति का ही प्रकर्ष होगा। इस न्याय युक्त, नीति संगत, विद्वज्जनमान्य आधार पर अपनी दिव्य संस्कृति की उपासना करते हुए उसके पूजन-कर्त्ता के नाते प्रत्येक व्यक्ति आत्म विश्वास से परिपूर्ण हिन्दू समाज को पुनसज्जीवित करने वाला यह संघटन है।······इस जीवन की परंपरा में प्राचीनकाल से भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से अनेक व्यक्ति उत्पन्न हुए और इसी जीवन ने संसार में श्रेष्ठत्व प्राप्त किया था। भारत विश्वगुरु था और फिर रहेगा, यही आत्म विश्वास लेकर हिन्दू समाज में नवजीवन का निर्माण करना संघ का कार्य है। संघ का कार्य शुद्ध संघटनात्मक, आत्म-विस्मृति को नष्ट करके अपने जीवन के साक्षात्कार का है।" भारतीय संस्कृति की उच्चता की इस घोषणा में अन्य संस्कृतियों के प्रति तिरस्कार का भाव केवल निहित ही नहीं है उसे भी हिन्दू सांप्रदायिकतावादी बार बार दोहराते रहे हैं। "रहन सहन, आचार-विचार, प्रत्येक बात के लिए हमने पश्चिम की ओर देखा और वहां देखा······एक भोगपूर्ण, आसक्तिमय, वासनामय जीवन, वह जीवन जिसमें वासनाओं का बढ़ना ही प्रगति का लक्षण माना जाता है।······ दुर्भाग्य से हमने आसुरी जीवन को अपनाया, उसके द्वारा अपनी उन्नति की आकांक्षा से उसके पीछे दौड़े। अपनी वृद्धि, भारत की त्यागमय श्रेष्ठ वृद्धि की परंपरा, अन्तःकरण की विशालता की परंपरा, को हटा कर परकीय भोग-प्रवी-

णता को ही सर्वस्व मान कर लोगों ने कार्य प्रारंभ किया,—किसी को अपने पूर्वजों का गौरव नहीं, उनकी आत्मा का साक्षात्कार नहीं। यह कोई नहीं कहता कि मैं अपने पूर्वजों का अनुकरण करके भारत को भारत बनाऊँगा। जिस दिव्य शक्ति के सामने अच्छे अच्छे पराक्रमी राष्ट्र भी नतमस्तक हुए, हिन्दू समाज के उस सामर्थ्य का अनुभव करके कोई नहीं कहता कि उस चैतन्य-युक्त पवित्र धारा को मैं अधिक बलशाली बनाऊँगा।"[1]

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ द्वारा प्रजनित विचार-धारा की सबसे बड़ी विशेषता, उसका सबसे बड़ा दोष और सबसे बड़ा खतरा भी, यह है कि उससे भारतीय जीवन-धारा को हिन्दुत्व के साथ संबद्ध करके देखा गया है और परकीया संस्कृति के प्रति उनका जो रोष है वह अप्रत्यक्ष रूप से पाश्चात्य संस्कृति के प्रति होते हुए भी प्रत्यक्ष रूप से मुस्लिम-संस्कृति के प्रति है, हिन्दुस्तान के पिछले एक हज़ार वर्ष के इतिहास को संघ हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों के संपर्क संघर्ष और समन्वय के रूप में नहीं देखता मुस्लिम संस्कृति को एक आक्रान्ता के रूप में देखता है, और भारतीय संस्कृति को उसने जो देन दी उसे अस्वीकार्य और त्याज्य मानता है। संघ की विचार-धारा में हिन्दू और अहिन्दू (जिसका मुख्य अर्थ है मुसलमान) में उतना ही गहरा अन्तर है जितना नात्सी विचार-धारा में जर्मन और यहूदी में। नात्सी जिस प्रकार से मानता है कि जर्मनी के पतन की मुख्य ज़िम्मेदारी यहूदियों पर थी हिन्दू सांप्रदायिकतावादी हिन्दुस्तान के पतन का उत्तरदायित्व मुसलमानों पर रखते हैं। अन्य संस्कृतियाँ गंगा में मिल कर नष्ट हो जाने वाली नदियों के समान हैं पर मुस्लिम-संस्कृति ने क्योंकि अपने को उसमें खोने नहीं दिया है इसलिए वह गंदे नाले के समान है और उसे त्याग देने में ही हमारा कल्याण है। "शक और हूण प्रायः हममें मिल गए हैं और ऐसे मिल गए हैं कि आज उनको कोई पैनी से पैनी दृष्टि लेकर अलग नहीं कर सकता। गंगा यमुना मिलती हैं और यमुना गंगा में मिल कर गंगा रूप हो जाती है। काशी में क्या कोई गंगा के पानी में यमुनाजल का(*percentage*)ढूंढने का प्रयत्न करेगा? ज

[1] राष्ट्र-धर्म (मासिक) मार्गशीर्ष २००४, पृ० ४-१५

राष्ट्र जीवन की गंगा में मिलेगा उसे गंगा का पावित्र्य प्राप्त होगा अन्यथा अलग नाली की नाली ही बना रहेगा। किन्तु गन्दे नाले का पानी गंगा बनेगा यह सोच कर उसको मस्तक पर लगाने वालों को हम क्या कहें?...... हमको पुष्ट होना है तो आत्मसात् करके पुष्ट हों, गंगा बन कर चलें, गंगा जमुनी नहीं।"[१] आग्रह स्पष्टतः आत्मसात् हो जाने में है। किसी अल्पसंख्यक संस्कृति को यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह अपनी विभिन्नता को बनाए रख सके। एक दूसरे लेखक के शब्दों में "यदि बहुसंख्यक वर्ग अपनी विशुद्ध संस्कृति के स्थान पर इस संस्कृति-सम्मिश्रण की ओर झुकता है तो इसमें सन्देह नहीं कि उसकी अपनी संस्कृति अक्षुण्ण नहीं रह सकती और मानव की जैसी पतनोन्मुखी प्रवृत्ति साधारणतया होती है उसके अनुसार वह स्व से प्रेम करना छोड़ कर परत्व का प्रेमी बनता जाएगा। जैसे नदी में नहाने वाला एक बार अपने स्थान से च्युत होते ही, पैर फिसलते ही डूबने लगता है वैसे ही संस्कृति-समन्वय की ओर बढ़ना मानो पैर का फिसलना है जो परिणाम में हमें हमारी संस्कृति से छुड़ा कर दूर ले जायगा।"[२] और फिर इस संस्कृति समन्वय की ओर बढ़ना हमारे जैसी महान् संस्कृति के उत्तराधिकारी के लिए तो शोभा भी नहीं देता। इन्हीं लेखक के शब्दों में, "अरे जिसके पास कुछ न हो वह दूसरों से उधार मांगे, पर जिसके घर में सब कुछ रखा है, वह जब दूसरों के उच्छिष्ट पर जीवन व्यतीत करना चाहे तो उसे क्या कहा जाए? जिसके पास अपनी भाषा है, अपनी सुदृढ़ विचार-सम्पत्ति है, अपनी आचार-प्रणाली है, जिससे उधार लेकर अन्यों ने अपने अपने संप्रदाय और वाद खड़े किए हैं, जिसके ज्ञानालोक से अपने अपने दीपक प्रज्वलित किए हैं, वह क्यों दूसरों की ओर ताकता है?"[३] "विश्वास कीजिए" एक और सज्जन लिखते हैं, "हमारी यह आत्मश्लाघा नहीं अटल सत्य है कि जब कभी संसार की कोई भी जाति भौतिक योग्यता की सीमित योग्यता को अवगत करके अमरत्व को

---

१ राष्ट्र-धर्म (मासिक), मार्ग शीर्ष २००४, पृ० १३

२ राष्ट्र-धर्म (मासिक) मार्गशीर्ष २००४ पृष्ठ १८

३ वही, पृ० २०

प्राप्ति के लिए व्याकुल होगी तब उसे हमीं से दीक्षा ग्रहण करनी होगी।"१

अपनी राष्ट्रीय संस्कृति को संसार में सर्वश्रेष्ठ मानने की गल्ती प्रायः सभी देशों में की जाती रही है, पर उसे क्षम्य माना जा सकता है, पर जब उस राष्ट्रीय संस्कृति को एक जाति-विशेष अथवा धर्म-विशेष के साथ संबद्ध कर दिया जाता है, तब खतरा पैदा हो जाता है, क्योंकि उसमें अल्पसंख्यक वर्ग की संस्कृति के प्रति तिरस्कार का भाव पैदा हो जाता है और क्योंकि इस प्रकार की प्रत्येक विचार-धारा में अपनी संस्कृति के शुद्ध रूप के संरक्षण पर जोर दिया जाता है तिरस्कार की भावना जल्दी ही घृणा में परिणत हो जाती है। भारतीय राष्ट्रीयता को हिन्दू धर्म का पर्यायवाची मानने वाले सभी लोगों में अल्पसंख्यक वर्गों, विशेषकर मुसलमानों के प्रति यही तिरस्कार और घृणा का भाव पाया जाता है। यदि यह झगड़ा सांस्कृतिक स्तर तक ही सीमित रहे तब भी ठीक है, पर इस विचार धारा के समर्थकों का आग्रह रहता है कि हिन्दू-धर्म को ही राष्ट्र-धर्म माना जाए और उसके आधार पर, उसी के मूल्यों से प्रेरणा लेकर समस्त समाज का संगठन हो, व्यक्ति की अपनी कोई महत्ता नहीं रह जाए, वह इस राष्ट्र-धर्म की मशीन को अपने का एक पुर्जा माने, अपने जीवन और सर्वस्व को उसकी वेदी पर भेंट करने के लिए तत्पर रहे, इस प्रकार के बलिदान के किसी भी आह्वान को अपना गौरव माने, इस राष्ट्र-धर्म की रक्षा में जिन वीरों ने अपने प्राण दिए हैं उन्हें अपना आदर्श समझे और उसकी स्थापना में अपना अथवा दूसरों का रक्त बहाना यदि आवश्यक हो तो उससे भी झिझकें नहीं, बल्कि व्यक्ति को बचपन से ही इस प्रकार शिक्षित किया जाए कि वह हिन्दू संस्कृति को ही राष्ट्रीय संस्कृति का पर्यायवाची समझे और उसकी स्थापना में जो भी शक्तियाँ बाधक हों उनके विनाश को पुण्य कार्य।

"जब तक वह स्वातंत्र्य जिसको लेकर हमारा परम पवित्र सुवर्ण गैरिक राष्ट्र-ध्वज सारे संसार में ऊँचा मस्तक किए फहराता था........वह स्वातंत्र्य, वह दिव्य स्वातंत्र्य जब तक मिल नहीं जाता तब तक एक दो नहीं, सहस्रों की संख्या में वीर तांत्या के सामने हमें अपना रक्त बहाने के लिए तैयार रहना

१ राष्ट्र-धर्म (मासिक), कार्तिक २००४, पृ० १४

होगा, अपने हाथों से फाँसी का फंदा अपने गले में डाल लेना होगा, अपने हाथों स्वदेहार्पण करना होगा, इस राष्ट्र-यज्ञ में अपनी आहुति देनी होगी। तभी तो हमारी माता के कमल-नयनों का अविरल अश्रु प्रवाह रोका जा सकेगा। जब हमारा एक एक रक्त-बिन्दु शक्तिशाली होकर विशाल रूप धारण करेगा, हमारी भस्मीभूत अस्थियों से जब भयानक भस्मासुर उठ खड़ा होगा, तब तक बलिदान की यह परम्परा चलती ही रहेगी। त्याग ही हमारा सर्व प्रथम एवं परम कर्त्तव्य है। आज हमें और कुछ विशेष करने की आवश्यकता नहीं—हमें केवल अपने को राष्ट्र कार्य के लिए समर्पित कर देना होगा **फिर उसका उपयोग किसी भी प्रकार से क्यों न किया जाए।**" १

फासिज्म का मनोविज्ञान

अपनी, 'स्वकीय', संस्कृति में गहरे आत्म विश्वास के साथ अन्य, 'परकीय,' संस्कृतियों व जाति के प्रति गहरी घृणा और तीव्र तिरस्कार की भावना सभी फ़ासिस्ट विचार-धाराओं का आधार होती है। फ़ासिज्म के समर्थकों का विश्वास है कि प्रेम की तुलना में घृणा मनुष्य के लिए अधिक स्वाभाविक है। रैक्स वार्नर के उपन्यास के एक पात्र के शब्दों में "लगभग सभी मनुष्य सभी युगों में—सबल मनुष्य शक्ति के साथ और निर्बल निर्बलता के साथ—उस प्राकृतिक नैतिकता का पालन करते रहे हैं जिसके मूल उद्‌गम में हम पाते हैं जीवन का उन्माद, भय और घृणा। बाद में जिस कृत्रिमता का विकास हुआ वह केवल घरेलू उपयोग की वस्तु थी, जनता को समाज की निश्चित सीमाओं के अन्तर्गत अपने उचित स्थान पर रखने के लिए। प्रकृति-दत्त नैतिकता अपरिवर्त्तनशील और अपरिवर्त्तनीय है। उसकी जड़ें मनुष्य के अन्तर में बहुत गहरी चली गई हैं। उसके स्रोत मनुष्य के शरीर की दुर्दम्य इच्छाओं रक्तमांस और इंद्रियों, में होने के कारण उसमें सहज प्रेरणा की शक्ति है। वह प्रेरणा जो जीवन के संरक्षण और उसकी वृद्धि के लिए आवश्यक है। उस नैतिकता का घृणा से अधिक निकट का संबंध है, बजाए उससे जिसे तुम

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृष्ठ २१

प्रेम कहते हो"। १ एक दूसरे स्थान पर यही पात्र कहता है, "हमारा प्रेम एक कर्त्तव्य परायण बुद्धिवादी की भावना नहीं है। उसका आधार शत्रु के प्रति तीव्र घृणा पर है। हमारा न्याय कोई व्याख्या द्वारा स्पष्ट की जाने वाली वस्तु नहीं है, वह हमारे विरोधियों को दुनिया के पर्दे से नेस्त-नाबूद कर देने की एक आल्हादपूर्ण अभिव्यक्ति है। हमारा प्रचार तुम्हारे प्रचार के मुक़ाबिले में क्यों इतना अधिक सफल होता है ? इसका एक कारण तो यह है कि हमारे उद्देश्य निश्चित, और आसानी से समझ में आने वाले, हैं और हर व्यक्ति उन तक पहुँच सकता है। वे तुम्हारे (जनतंत्रीय) उद्देश्यों के समान अस्पष्ट, बुद्धिवादी, अनिश्चयात्मक नहीं हैं; परंतु, इसका एक दूसरा बड़ा कारण यह है कि हम मानव-स्वभाव की उन अँधेरी और बलिष्ठ और प्रकृति-दत्त प्रवृत्तियों को जागृत करते हैं जो तुम जैसे लोगों की ढोंगपूर्ण शिक्षा के कारण अब तक दबा कर रखी गई हैं। हम अपने अनुगामियों को यह बताते हैं कि किस प्रकार शत्रुओं से घृणा करके वे अपने जीवन में आत्म-विश्वास उत्पन्न कर सकते हैं। तुम उन्हें सारी दुनियां से प्रेम करने की शिक्षा देते हो, हम उन्हें एक सुनिश्चित, अल्पसंख्यक वर्ग से घृणा करना सिखाते हैं।......हम न तो बुद्धि को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं और न व्यक्ति के तात्कालिक स्वार्थों को। हम तो प्राकृतिक मनुष्य की छिपी हुई, अतृप्त और शक्तिशाली प्रेरणाओं को जागृत करते हैं।" २

एक सोनहले भूतकाल में अटूट विश्वास, उसे पुनर्जीवित करने के प्रयत्न में अपनी समस्त मानवीय घृणा और भावुकता को नियोजित करने का अदम्य उत्साह, त्याग और बलिदान के लिए अथक आवाहन और आर्थिक भेदभावों को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए, अपनी, संस्कृति को अन्य संस्कृतियों से ऊँचा मानने की भावना में सब फ़ासिस्ट विचार-धारा के प्रमुख आधार माने जा सकते हैं और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साहित्य में हमें पग पग पर मिलते हैं। "भारत ने धर्म, संस्कृति और कर्म के क्षेत्र में दिव्य परंपरा का निर्माण

१ *Rex warner: The Professor* पृष्ठ ६५–६६

२ *Rex warner; The Professor* पृष्ठ ६६

किया है। हमारी परंपरा विश्व-विजय के गर्व से उन्मत्त सिकंदर की सैनाओं को धूल चटाने वाले चाणक्य और चन्द्रगुप्त, नाना अत्याचार करने वाले शकों को परास्त कर आत्मसात् करने वाले विक्रमादित्य, चारों ओर ज्ञान और धर्म के सूर्य को आवृत्त करने वाले काले काले मेघों से प्रच्छन्न श्रुति को प्रगट करने वाले माधवाचार्य, राष्ट्र में प्रखर चैतन्य निर्माण करने वाले छत्रपति और रामदास, शत्रु के सामने तनिक न झुकने वाले राणा प्रताप, चार चार पुत्रों का बलिदान होने पर भी हृदय में खिन्नता न लाते हुए धर्म और राष्ट्र का काम करने वाले तपस्वी गुरु गोविन्द, एक से एक दिव्य विभूतियाँ, जिनकी तुलना संसार में संभव नहीं ऐसे महा पुरुषों की है।" १ इस गौरवशाली संस्कृति के उत्तराधिकारी हिन्दू-समाज को किसी अन्य समाज से कुछ भी लेना अपना गौरव नष्ट करना है। "जिसने अपने ज्ञान के एक अंश से संसार को पाला वही भारत जिसके ज्ञानामृत का एक बूंद लेकर योरुप फल और फूल रहा है, उन्हीं भिखारियों से भीख मांगने खड़ा है। जिस समाज में चाणक्य और शिवाजी जैसे राजनीतिज्ञ हुए·········वे अमरीका और स्विजरलैण्ड की ओर देखें तथा अपने जीवन की ओर दृष्टिपात न करें यह महान् चमत्कार है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ हिन्दू-समाज की दृष्टि अन्तर्मुखी करना चाहता है। एक एक हिन्दू का हृदय राष्ट्र के प्रखर अभिमान से भर देना चाहता है। हर एक पुकार उठे कि भारत का कण कण मेरा है और इसीलिए भारत के हर कण से बना हुआ और उसको पवित्र मानने वाला भारत का एक एक हिन्दू मेरा है। भेद जीवन की क्षुद्रता का द्योतक है।" २

सभी फासिस्ट विचार-धाराओं के समान राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ भी समाज के आर्थिक भेदों को उपेक्षा की दृष्टि से देखता है और उसके सांस्कृतिक ऐक्य पर बहुत अधिक जोर देता है। "संघ के लिए एक प्रामाणिक दरिद्र एक धनी से अधिक मूल्यवान है। संघ के जीवन के निकट जाने पर मालूम होगा कि संघ में धनी और निर्धन का कोई भेद नहीं। आप यदि गांवों

१ राष्ट्र-धर्म, मार्गशीर्ष २००४, पृष्ठ १२

२ राष्ट्र-धर्म, मार्गशीर्ष २००४, पृष्ठ १२–१३

में जाएँ तो मालूम हो जायगा कि जिस गांव में संघ की प्रभावी शाखा है वहाँ तथा कथित वर्ग-संघर्ष का कोई अस्तित्व नहीं। शोषित तथा शोषक का कोई भेद नहीं। गांव के जीवन में एक सहयोग तथा प्रेम का वातावरण निर्माण हो जाता है, जिसमें सब प्रकार के वर्ग स्वार्थ भस्म हो जाते हैं।.......... संघ में समाज के सब वर्गों के लोग आते हैं। संघ-जीवन की एकात्मता में उनके वर्ग-स्वार्थों को कोई स्थान नहीं। निकृष्ट आर्थिक स्वार्थों के आधार पर समाज में वर्गों का निर्माण कर उनके संघर्ष को प्रोत्साहन देना संघ का कार्य नहीं। संघ तो 'हिन्दू' नाम से जो अपने को पहिचानते हैं उनको एकत्र कर समान सांस्कृतिक भूमिका पर सबको एक प्रचण्ड शक्ति के रूप में परिवर्तित करना चाहता है। भारत में कौनसी आर्थिक रचना होगी, कौन से 'वाद' की स्थापना होगी, इसमें संघ को कोई मतलब नहीं।"[१] समाजवादी और साम्यवादियों से राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के नेता 'स्पष्टता पूर्वक कह देना चाहते हैं कि वे रूस की ओर दृष्टि डालने के स्थान पर अपनी संस्कृति की विशेषताओं को ऐतिहासिक दृष्टि से देख लें। रूसी साम्यवाद भौतिकता की विनश्वर नींव पर आधारित है। वह केवल आर्थिक समस्याओं को सुलझाने का एक समाधान प्रस्तुत करता है, पर मानव की यही तो एक समस्या नहीं है...........आर्य-

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० १४५

तुलना कीजिए मुसोलिनी के निम्नलिखित उद्‌गारों से—

"फासिज्म, अब और सदैव, पवित्रता और वीरता में विश्वास रखता आया है। इसका अर्थ यह है कि वह ऐसे कर्मों में विश्वास रखता आया है जिन पर आर्थिक उद्देश्यों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, कोई प्रभाव नहीं है। और यदि इतिहास की आर्थिक कल्पना, जिसके अनुसार मनुष्य भाग्य की लहरों में इधर से उधर थपेड़े खाता हुआ फिरता है जबकि उसे निर्देश देने वाली शक्तियां उसके नियंत्रण के परे हैं, झूठी सिद्ध हो जाती हैं तो उससे हम यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अपरिवर्त्तनीय और अपरिवर्त्तनशील माने जाते वर्ग-संघर्ष का अस्तित्व भी नहीं है— जो इतिहास की आर्थिक कल्पना की स्वाभाविक उपज माना जाता रहा है।"

संस्कृति ने भी साम्यवाद की मुक्त-कंठ से घोषणा की है, पर उसकी नींव अविनश्वर आध्यात्मिकता है, विनश्वर भौतिकता नहीं। ...... आर्यों का यह साम्यवाद विश्व भर की समस्याओं को सुलझाने का सामर्थ्य रखता है।" १ हमारा लक्ष्य भौतिक साधनों की उपलब्धि नहीं, राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार होना चाहिए। "राष्ट्र की आत्मा का यदि यह साक्षात्कार न हुआ, अपितु आत्मा उसी प्रकार आक्रांत और निम्नगा रही अथवा अपनी चिति के ऊपर अन्य राष्ट्र की चिति का प्रभाव रहा तो जातीय जीवन के उत्कर्ष के स्थान पर अपकर्ष ही होता है। इस प्रकार चितियों के संघर्ष में यदि देशीय चिति बलवती न हुई तो अन्त में राष्ट्र-जीवन नष्ट हो जाता है।" २

सामर्थ्य का आवाहनः

शक्ति की उपासना

इस राष्ट्र-जीवन को बलवान बनाने के लिए हमें भौतिक लक्ष्यों और निम्न स्वार्थों से उठना होगा और त्याग और कष्ट-सहन का जीवन बिताने के लिए तत्पर रहना होगा। "जीवन का मोक्ष आर्थिक समुन्नति मे ही मानना, यह जीवन का अधूरा दृष्टिकोण है। जीवन की पूर्णता को प्राप्त करने के लिए आर्थिक प्रपच से ऊपर उठना पड़ेगा। ...इसीलिए भारतीय जीवन में त्याग को अधिक महत्त्व दिया गया है"। ३ अधिकारो से अधिक कर्त्तव्यों पर जोर दिया जाना भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है। "दुर्भाग्य से हमने आसुरी जीवन को अपनाया, उसके द्वारा अपनी उन्नति की आकाक्षा से उसके पीछे दौड़े। अपनी बुद्धि, भारत की त्यागमय श्रेष्ठ बुद्धि, की परंपरा, अन्तःकरण की विशालता की परंपरा, को हटा कर पश्चीय भोग-प्रवणता को ही सर्वस्व मान कर लोगों ने कार्य आरम्भ किया। इसी के अनुसार आर्थिक तथा राजनैतिक अधिकार, कुछ इधर उधर के अधिकार, का—कर्त्तव्य का नहीं — चिन्तन करने

१ राष्ट्र-धर्म, मार्गशीर्ष २००४, पृ० २१–२२

२ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० ८१

३ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ०१२६

में सारा जीवन लगा दिया"। १ एक सच्चे राष्ट्रवादी का लक्ष्य कर्त्तव्य और अधिकारों के झगड़े में पड़ना नहीं, अपने देश के लिए शक्ति संग्रहीत होना चाहिए। "यहाँ किसी भी विरोधी भावना को स्थान नहीं है। हमारा संगठन तो शाश्वत नियमों के आधार पर है। बाह्य परिस्थिति की प्रतिक्रिया अथवा विरोध तो चिरस्थाई गुण नही हैं, उसमें अपनेपन की विशुद्धता भी नहीं है। अपनेपन का अभिमान भारतीयत्व की उपासना, पूर्वजों के प्रति श्रद्धा, प्रत्येक हिन्दू को अन्तःकरण का अंश समझ कर प्रत्येक का सबके साथ तादात्म्य उत्पन्न करना, इस आधार पर संघटन द्वारा शक्ति निर्माण करना ही राष्ट्रीय स्वयं सेवक सघ का कार्य है"। २ संघ की विचार-धारा में सामर्थ्य की उपासना और शक्ति के महत्त्व पर ही सबसे अधिक जोर दिया गया है। "राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ने प्रारम्भ से ही सामर्थ्य की उपासना का प्रतिपादन किया है। ...... शक्ति की उपासना करके भारतीयत्व के पीछे जिस सात्त्विक सामर्थ्य को संघ खड़ा करना चाहता है उसकी आवश्यकता आज भी बनी हुई है। हमें संसार के सामने दिखाना है कि हम अपने पैरों पर खडे हुए हैं, अपने बाहुबल से जीवित हैं। संसार में सभी सज्जन नहीं हैं। उनके मन में हमारे बारे में सद्भाव नहीं है। साधारण रीति से हमारे चारों ओर जो समाज रहता है वह स्वार्थी है उसकी नजर साफ़ नहीं है। ....भारत का जीवन सुरक्षित, वैभव सम्पन्न तथा निर्भय तब ही होगा जबकि भारत का समाज हिन्दू समाज, अपनी संस्कृति के प्रखर अभिमान को लेकर शक्तिवान् हो"। ३ शक्ति का प्रयोग किस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया जायगा, इसके संबन्ध में भी संघ के विचार बिल्कुल स्पष्ट हैं। "आज विजय के इस महोत्सव पर," संघ के गुरूजी ने वार्षिक अधिवेशन के अपने एक अभिभाषण में कहा,........."अपनी विजयशालिनी परंपरा के प्रतीक परम पवित्र भगवाध्वज को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए यह निश्चय लेकर जावें कि जिस प्रकार इस ध्वज के नीचे अनेक बार पराक्रम करके भारतीय संस्कृति

२ वही मार्गशीर्ष २००४, पृ० ७

३ वही कार्तिक मार्गशीर्ष २००४, पृ० ७

का पुनरुत्थान कर अपनी सामर्थ्य से उत्तर से दक्षिण तक स्वराज्य स्थापित किया उसी प्रकार अपनी सामर्थ्य से आज की समाज की प्रतिकूल स्थिति को बदल कर विजय के गौरव से मंडित करेंगे" । १

भगवे झंडे के तले एक विशुद्ध हिन्दू-राज्य की स्थापना होगी, यह राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ का दृढ़ विश्वास, और उसके राशि राशि प्रयत्नों का एक मात्र लक्ष्य है । "सहस्रों वर्षों से संसार में भीषण संघर्ष करते हुए आज भी हिन्दू-राष्ट्र जीवित है । यदि हमारा प्राचीन जीवन क्षुद्र एवं संकीर्ण था और हमारी संस्कृति निकृष्ट थी तो क्यों नहीं हिन्दू-समाज सर्वदा के लिए नष्ट हो गया ? ......जब विश्व के महान् शक्तिशाली राष्ट्र प्रबल विजेता शक्तियों के प्रचंड झंझावात में एक शुष्क पल्लव के समान उन्मूलित होकर सर्वदा के लिए नष्ट हो गए, जब विश्व की महान् कहलाने वाली संस्कृतियाँ शत्रु की विजय-वाहिनी के सन्मुख उध्वस्त हो गईं, जब विश्व के महान साम्राज्यों ने विजेता के चरणों पर अपना संपूर्ण वैभव न्योछावर कर आत्म-समर्पण कर दिया, वह कौनसी शक्ति थी जिसके बल पर हिन्दू-राष्ट्र ने सदियों तक उन विजेताओं से संघर्ष किया ? केवल इतना ही नहीं अन्त में उनको परास्त कर आत्मसात् कर डाला । ......प्रत्येक राष्ट्र का एक सत्त्व रहता है जो उसकी अनेकानेक आपदाओं से रक्षा करता है। हमारा भी राष्ट्रीय सत्त्व है जिसने अनेक परकीय सत्ताओं को उध्वस्त कर सदियों तक अविश्रांत संघर्ष किया और आज भी पूर्ण प्रखरता के साथ हमारे जीवन की प्रेरक शक्ति बना हुआ है । यही सत्य भावी जीवन रचना का भी एकमेव आधार होगा" । २ इस जीवन-रचना में निःसन्देह केवल वही व्यक्ति भाग ले सकेंगे जो हिन्दू-राष्ट्र के अविच्छिन्न अंग हों । "हिमालय से लेकर इन्दु सरोवर पर्यन्त देवनिर्मित देश 'हिन्दुस्तान' कहलाता है । उक्त भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रख कर यद्यपि यह बात कही जा सकती है कि प्रत्येक भारतवासी 'भारतीय' अथवा हिन्दुस्तान का निवासी 'हिन्दू' कहला

---

४ वही राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० ६–७

१ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ०७८

२ राष्ट्र-धर्म, कार्तिक २००४, पृ० ७८

सकता है किन्तु जिस प्रकार 'आर्य' शब्द से ऐसे पुरुष का ही बोध होता है जो हमारे राष्ट्र की संस्कृति में निष्ठा रखता हो उसी प्रकार 'भारतीय' वही कहला सकता है जिसे राष्ट्रीय राजतन्त्र का अंग बन सकने का अधिकार हो तथा 'हिन्दू' वही कहला सकता है जो इस राष्ट्र-भूमि के राष्ट्र का घटक हो ।.........समस्त भारतभूमि आर्य हिन्दुओं की राष्ट्र-भूमि है। अतः इस भूमि पर हिन्दू-तंत्र की स्थापना में स्वतन्त्रता तथा हिन्दू राज्य की स्थापना में स्वराज्य निहित है"।[१] इस विचार-धारा के आधार पर जिस 'स्वराज्य' की नींव डाली जायगी वह निःसन्देह मुसोलिनी और हिटलर के इटली व जर्मनी के 'स्वराज्य' की एक पीली सी छाया-मात्र होगी, आज के विश्वकी धमनियों में प्रवाहित होने वाले नए उष्ण रक्त की अरुणिमा से सर्वथा शून्य और चारों ओर से उच्छ्वसित होने वाले नवीन जीवन के राशि राशि स्रोतों से सर्वथा विच्छिन्न ।

---

१ राष्ट्र-धर्म; कार्तिक २००४; पृ० ४६

: २ :

भारतीय-फासिज्म के आधार तत्व

हिन्दू-राज्य की कल्पना को अपनाने के पहिले हमें कुछ मूल-सिद्धान्तों पर विचार कर लेना चाहिए, और उसमें भी सबसे पहिले हमें यह देख लेना चाहिए कि धर्म और राज्य का वास्तविक संबंध अब तक क्या रहा है और, इतिहास की शिक्षाओं को देखते हुए, अब क्या होना चाहिए। यह एक निर्विवाद सत्य है कि धर्म की स्थापना राज्य की स्थापना से बहुत पहिले हुई। जिस समय राजनैतिक चेतना और राजनैतिक संघटन की कल्पना का जन्म भी नहीं हुआ था, धर्म-संबंधी भावनाएँ मानव-आत्मा में विकास के एक ऊँचे शिखर तक पहुँच चुकी थीं। राज्य की वर्तमान कल्पना तो तीन चार सौ वर्षों से अधिक पुरानी नहीं है, और किसी प्रकार का राजनैतिक संघटन शायद ढाई हजार वर्ष से पुराना नहीं है। परंतु धार्मिक भावना का प्रादुर्भाव तो संभवतः मानव-समाज के जन्म से ही हो गया था। आदि मानव ने जब पहिली बार आँख खोली तो उसने एक आश्चर्य की भावना के साथ अपने आस पास की सृष्टि पर नज़र डाली और उसके मन में एक कुतूहल पैदा हुआ कि वह स्वयं कौन है, इस असीम सृष्टि से उसका क्या संबंध है और इस सबका निर्माण किसने किया है। एक अज्ञात शक्ति के प्रति उसके मन में कुछ कुतूहल, कुछ भय और कुछ आकर्षण उत्पन्न हुआ, और उसी क्षण मनुष्य की धार्मिक भावना का जन्म हुआ। इस भावना को आधार बना कर बाद में बड़े बड़े संप्रदाय, समाज संघ व संस्थाओं की नींव रखी गई।

इस प्रकार के धार्मिक संघटन राजनैतिक संघटनों के मुक़ाबिले में कहीं पहिले विकसित हो चुके थे। जब राजनैतिक संस्थाएँ बनने लगीं तब भी दुनिया के बड़े हिस्से में एक लंबे अर्से तक उनमें और धार्मिक संस्थाओं में किसी प्रकार का मतभेद नहीं हुआ। यह कहा जा सकता है कि साधारण व्यक्ति की आस्था धर्म के प्रति अधिक थी, राज्य के प्रति कम, यद्यपि साधारणतः वह दोनों का ही मान करता था। कभी कभी ऐसा होता था कि शासक वर्ग किसी एक धर्म-विशेष से संबद्ध होता था और उसकी प्रजा में बहुत से ऐसे लोग भी होते थे जो किसी दूसरे धर्म को मानते थे पर, कम से कम एशिया के देशों में, उनके प्रति असहिष्णुता का कोई बर्ताव नहीं किया जाता था। यूरोप में धर्म के नाम पर कुछ अत्याचार हुए परन्तु, ईसाई धर्म के समुचित रूप से विकसित हो जाने के बाद धार्मिक असहिष्णुता के लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। मध्य-युग में पहिली बार यह प्रश्न उठा कि धर्म और राज्य इन दोनों में कौन बड़ा है और किस के प्रति व्यक्ति को अधिक वफ़ादार होना चाहिए। इस संबंध में लंबे अर्से तक एक सैद्धांतिक चर्चा चलती रही। किसीने कहा कि धर्म बड़ा है, किसी ने राज्य को बड़ा बताया और किसी ने कहा कि धर्म और राज्य दोनों ही ईश्वर की दो तलवारें हैं और इनमें से किसी एक को बड़ा या छोटा मानना ठीक नहीं है।

आधुनिक युग के प्रारंभ में जब एक छत्र शासन की कल्पना प्रबल होने लगी तब राजा की ओर से यह दावा उठाया गया कि धार्मिक संघटन शासन तंत्र की तुलना में छोटे स्तर पर है, और जनता के लिए उसी धर्म पर चलना अनिवार्य होना चाहिए जिसमें राजा का विश्वास है। इस बीच ईसाई मत दो भागों में बँट गया था—कुछ रोमन कैथोलिक मत को मानने वाले थे और कुछ प्रोटेस्टैण्ट चर्च के अनुयायी बन चुके थे। स्वयं प्रोटेस्टैण्ट चर्च भी कई हिस्सों में बँटा हुआ था, इस कारण प्रत्येक देश में थोड़े बहुत व्यक्ति ऐसे ज़रूर थे जिनके धार्मिक विश्वास राजा की इच्छा के अनुसार नहीं थे, और इन लोगों को प्रायः राजा के द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का शिकार होना पड़ता था। इंग्लैण्ड में तो एक ही राज-वंश के शासन-काल में यह दशा रही कि कभी

तो किसी प्रोटेस्टैण्ट राजा के द्वारा रोमन कैथोलिकों पर अत्याचार होता था, और कभी किसी रोमन कैथोलिक रानी के द्वारा प्रोटेस्टैण्ट लोगों को जिन्दा जला दिया जाता था। स्पेन और फ्रांस आदि देशों में हजारों व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वासों के कारण फाँसी की टिकटिकी पर लटका दिए गए। सत्र-हवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तीस वर्ष तक चलने वाला एक बड़ा धार्मिक युद्ध हुआ, जिसमें यूरोप के सभी प्रमुख देश शामिल थे, परंतु इस युद्ध के बाद ही यूरोप में यह विश्वास तेजी से मिटने लगा कि किसी व्यक्ति के धार्मिक विश्वासों को जोर या जबरदस्ती से बदला जा सकता है, और यह विचार फैलने लगा कि धर्म तो एक व्यक्तिगत चीज है जिसमें दखल देने का किसी राजनैतिक सत्ता को अधिकार नहीं होना चाहिए। पिछले तीन सौ वर्षों में धार्मिक सहि-ष्णुता का यह भाव और धर्म के क्षेत्र में राज्य के द्वारा हस्तक्षेप न करने की नीति सभी सभ्य देशों में सर्वग्राह्य सिद्धान्तों के रूप में मान लिए गए हैं, और आज किसी भी देश के राजनैतिक दृष्टि से सचेत और साधारण ज्ञान की दृष्टि से समझदार किसी भी व्यक्ति के सामने यदि यह कल्पना रखी जाए कि राज-तंत्र को किसी धर्म-विशेष से संबद्ध करना आवश्यक है तो वह उसका मखौल ही उड़ाएगा। इस प्रकार की कल्पना आज यदि हमारे देश में पाई जाती है और हमारे आस पास के देशों में भी काफ़ी लोगों का उसमें विश्वास दिखाई देता है, तो उसका कारण यही है कि परिस्थितियों का चक्र हमारे देश में कुछ इस प्रकार चलता रहा है, और हाल में कुछ ऐसी घटनाएं हुई हैं, जिनके परि णाम-स्वरूप हम अपना मानसिक संतुलन, और स्पष्ट चिन्तन की क्षमता खो बैठे हैं। बुद्धि के प्रकाश के अभाव में ही मानसिक विकार से जन्म लेने वाली असंख्य अस्पष्ट मूर्तियाँ भूतों का आकार लेकर हमें चारों ओर से जकड़ना प्रारंभ कर देती हैं।

हिन्दू-राज्य की कल्पना : भारतीय इतिहास की पृष्ठ भूमि पर

हमारे देश में कभी भी हिन्दू-राज्य स्थापित करने की दिशा में कोई संग-ठित प्रयत्न नहीं किया गया। आज हिन्दू सांप्रदायिकतावादी नेताओं के द्वारा

राणा प्रताप, गुरु गोविन्दसिंह और शिवाजी का नाम लिया जाता है, भगवे झंडे की चर्चा होती है और यह कहा जाता है कि इन लोगों ने देश में मुस्लिम-राज्य को खत्म करके सिख अथवा हिन्दू राज्य क़ायम करना चाहा था। इस सम्बन्ध में पहले तो यह कहना ही गलत है कि मुगलों ने अथवा अन्य मुसलमान शासकों ने हिन्दुस्तान में कोई इस्लामी राज्य कायम किया या करना चाहा था। अलाउद्दीन खिल्जी की उक्ति थी, "मैं नहीं जानता कि मैं जो कर रहा हूँ वह कहाँ तक धर्म या शरीयत के अनुकूल है। मैं तो वही करना चाहता हूँ जो राज्य के हित में हो।" उसके बाद भी यही भावना मुसलमानों द्वारा देश में स्थापित किए जाने वाले शासन का मूल-मंत्र बनी रही, और मुगलों ने तो उसे और भी व्यापक रूप देकर हिन्दू और मुसलमानों के सहयोग को अपने शासन का आधार बनाया। सत्रहवीं शताब्दी में मुग़ल-साम्राज्य के विरुद्ध जितने आन्दोलन उठे, उनमें धार्मिक पुट होते हुए भी वे शुद्ध राजनैतिक आन्दोलन थे, जिनका स्पष्ट उद्देश्य मुग़ल-साम्राज्य की दासता से मुक्त होना था। राणा प्रताप के विरोध में तो मुग़लों से सहयोग करने की उस समय की प्रचलित, और राजनीति-सम्मत, राजपूत प्रवृति के विरुद्ध एक शौर्यपूर्ण विद्रोह का भाव था, और एक काल्पनिक स्वाधीनता के अव्यावहारिक आदर्शवाद के प्रभाव में उन्होंने जीवन भर मुग़लों के विरुद्ध अपना संघर्ष जारी रखा। राणा प्रताप की शूरवीरता का मैं क़ायल हूँ, उनकी राजनैतिक दूरदर्शिता के सम्बन्ध मे मेरे अपने सन्देह हैं, पर यह निश्चित है कि हिन्दू-धर्म को आधार बना कर चलने वाले, अन्य भौतिक राज्यों से भिन्न, किसी धार्मिक राज्य की स्थापना की कोई कल्पना कभी उनके मन में नहीं उठी। सिखों ने भी पंजाब में अपना एक स्वतंत्र शासन क़ायम करना चाहा था, और वैसा करने में, मुग़ल-साम्राज्य के पतन के बहुत दिनों बाद, जब वे सफल भी हो गए तब भी उनकी राज्य-व्यवस्था में हम कोई ऐसी बात नहीं पाते जिसे उसके सिख-धर्म के सिद्धान्तों पर निर्धारित होने के लिए प्रमाण के रूप में हम ले सकें।

अब हमें यह देखने का प्रयत्न करना है कि शिवाजी कहां तक एक विशुद्ध धार्मिक राज्य क़ायम करना चाहते थे। शिवाजी धार्मिक प्रकृति के पुरुष थे,

इसमें सन्देह नहीं, और उनका भगवा झंडा इस बात का द्योतक है कि वह गुरू रामदास के नाम पर अपना शासन चलाना चाहते थे। स्वामी रामदास एक तीक्ष्ण राजनैतिक बुद्धिवाले व्यक्ति थे, जैसा कि उनके अभंगों से प्रगट होता है, परन्तु दिन प्रतिदिन की सक्रिय राजनीति में उनका हस्तक्षेप रहा हो, इसका कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। शिवाजी अन्य हिन्दू शासकों के समान यह घोषणा करते रहते थे कि उनका राज्य गौ व ब्राह्मणों के प्रतिपालन के लिए है, परन्तु अन्य धर्म वालों के प्रति किसी प्रकार की अनुदारता, जो शिवाजी के बीसवीं सदी के अनुयायियों में बहुत बड़ी मात्रा में पाई जाती है, शिवाजी में बिल्कुल भी नहीं थी। शिवाजी के बड़े से बड़े विरोधियों ने भी इस बात की प्रशंसा की है कि वह दूसरे धर्म के मानने वालों के प्रति सदा ही आदर का बर्त्ताव करते थे। हिन्दू सन्यासियों का तो वह आदर करते ही थे, मुसलमान सूफ़ियों और फ़क़ीरों को सहायता देने और उनके लिए आश्रम आदि बनवा देने के अनेकों उदाहरण हमें इतिहास में मिलते हैं। कट्टर मुसलमान इतिहासकार खफ़ीखाँ के शब्दों में, "शिवाजी ने यह नियम बना रखा था कि जब कभी उनके सिपाही लूटमार के लिए निकलें वे मस्जिदों, कुरान शरीफ़ अथवा किसी महिला को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाएँ। पवित्र कुरान की कोई प्रति जब कभी उनके हाथों में पड़ती थी वह उसके प्रति अपना आदर प्रदर्शित करने थे और उसे अपने किसी मुसलमान अनुयायी को दे देते थे। हिन्दू अथवा मुसलमान कोई भी स्त्री जब कभी उनके सिपाहियों द्वारा पकड़ी जाती थी, वह उस समय तक उसकी रक्षा करते थे जब तक कि उसके संबंधी काफ़ी रुपया देकर उसे छुड़ा न ले जाएं।' एक और स्थान पर खफ़ीखाँ ने लिखा है, "वह किसी भी प्रकार के लज्जाजनक कामों से अपने को सदा बचाकर रखते थे और मुसलमानों की स्त्रियों और बच्चों की इज्जत की रक्षा करने में तो विशेषरूप से सतर्क रहते थे। इस संबंध में उनके आदेश बहुत सख्त थे और जो उनकी अवहेलना करता था उसे सख्त सजा ही दी जाती थी।"

शिवाजी के शासन-तंत्र को यदि निकट से देखा जाए तो यह कहा जा

सकता है कि उसकी सबसे बड़ी कमजोरी यह थी कि उसने राज्य को एक धार्मिक अथवा जातीय संघटन से बिल्कुल अलहदा रखने का प्रयत्न नहीं किया, और यही उसके पतन का सबसे बड़ा कारण भी सिद्ध हुआ। मराठा शासन में, धर्मांधता को तो नहीं पर, रूढ़िप्रियता को प्रोत्साहन दिया गया। सरकारी नौकरियों के वितरण में भी जात-पांत का ध्यान रखा जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि जातिगत झगड़े बढ़ गए। जैसा कि श्री यदुनाथ सरकार ने लिखा, "सह्याद्रि पर्वतश्रेणी के पूर्व के ब्राह्मण उन ब्राह्मणों को घृणा की दृष्टि से देखते थे जो उसके पश्चिम में रहते थे, और पहाड़ियों में रहने वाले व्यक्ति मैदान में रहने वालों को अपने से छोटा समझते थे। राज्य का अध्यक्ष ब्राह्मण होते हुए भी अपने उन ब्राह्मण कर्मचारियों द्वारा, जो किसी ऊँचे गोत्र के थे, इस कारण अवज्ञा की दृष्टि से देखा जाता था कि पहिले पेशवा के प्रपितामह के प्रपितामह किसी समय समाज में देशस्थ ब्राह्मणों के प्रपितामह के प्रपितामह से छोटे माने जाते थे। चितपावन ब्राह्मण देशस्थ ब्राह्मणों के साथ सामाजिक संघर्ष में उलझे हुए थे। ब्राह्मण मंत्रियों और सूबेदारों में और कायस्थ कारकुनों में आपसी ईर्ष्या बढ़ती जा रही थी।"

हिंदू समाज के संघटन में आंतरिक दोष

सच तो यह है कि हिन्दू समाज में ही संघटन की दृष्टि से इतने अधिक दोष हैं कि उसके आधार पर यदि किसी राज्यतंत्र के निर्माण का प्रयत्न किया गया तो उसका सफल होना बहुत कठिन है। हिन्दू धर्म तो एक व्यापक और उदार-धर्म है, परन्तु सामाजिक दृष्टि से उसका आधार असमानता पर है, और उसमें व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर उतना जोर नहीं दिया गया है जितना जाति अथवा कुटुम्ब के सामूहिक जीवन पर और उसका परिणाम यह हुआ है कि, हिन्दू होने के नाते, हिन्दुओं को अपना दृष्टिकोण सामाजिक बनाना आवश्यक है इस बात को हिन्दू-समाज ने अब तक अनुभव नहीं किया है। जाति और वर्ण के व्यवधानों को लेकर हिन्दू-समाज में सद

ही एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति के बीच में दीवारें खड़ी की जाती रहीं हैं—दीवारें, जो श्री. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, "विचारों के प्रकाश और जीवन के श्वास को रोकने में ही समर्थ हुई हैं।" हरिजनों के साथ किया जाने वाला दुर्व्यवहार और हिन्दुओं की गिरी हुई स्थिति हिन्दू-समाज के लज्जा जनक तथ्य हैं। यह निश्चित है कि जब तक इन सामाजिक बुराइयों को नष्ट नहीं किया जाता, हिन्दू-राज्य की बात तो दूर किसी राष्ट्रीय भावना का विकास भी हिन्दू-समाज में असंभव है। श्री. रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में ही, "एक अस्थायी उत्साह देश भर में फैल जाता है और हम समझने लगते हैं कि उसमें एकता स्थापित हो गई है, परंतु हमारे सामाजिक ढाँचे के सहस्र-सहस्र छिद्र अपना काम गुप्त रूप से करते रहते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि हम किसी भी सुन्दर विचार को देर तक नहीं रख पाते।" शिवाजी के संबंध में श्री. रवीन्द्रनाथ ने लिखा है—"शिवाजी ने इन छिद्रों को ज्यों का त्यों रखना चाहा। उन्होंने मुग़लों के आक्रमण से एक ऐसे हिन्दू-समाज को सुरक्षित रखना चाहा जिसके लिए कर्मकाण्ड के भेद और जाति-पांति की व्यवस्था जीवन की सांस थी। उन्होंने चाहा कि टुकड़ों में बँटा हुआ यह समाज **समस्त** भारत वर्ष पर विजय प्राप्त कर ले। उन्होंने बालू के कणों से रस्सी बँटना चाही। उन्होंने असंभव को संभव करना चाहा। ऐसे जाति-पांति के भेदों से लदे हुए, विभाजित और भीतर से टूटे फूटे हुए धर्म का 'स्वराज्य' हिन्दुस्तान जैसे बड़े महाद्वीप पर स्थापित करना किसी भी मनुष्य की शक्ति के बाहर है। वह विश्व के दैवी नियमों के भी विरुद्ध है।" आज से चालीस वर्ष पूर्व लिखे हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर के इन शब्दों पर उन लोगों को, जो हिन्दू-राज्य की स्थापना के लिए शिवाजी के नाम की दुहाई देते हुए थकते नहीं हैं, गम्भीरता से विचार करना चाहिए।

हमें यह भी देख लेना है कि हिन्दू-राज्य की कल्पना व्यावहारिक दृष्टि से कहाँ तक संभव है। शिवाजी के उदाहरण से यह तो स्पष्ट है कि जिस सीमित रूप में उसे स्थापित करने का प्रयत्न किया गया उसमें असफलता ही मिली। आज भी यदि हम इस प्रकार का राज्य बनाना चाहें तो उसका परिणाम यह

होगा कि देश में जात-पाँत के भेद बहुत बढ़ जायँगे और वे सब सामाजिक कुरीतियाँ स्थाई रूप ले लेंगी जिन्हें आज हम उखाड़ने के प्रयत्न में लगे हुए हैं। एक ग़ल्ती जो हम वर्षों से करते आए हैं यह है कि हमने हिन्दू-समाज को हिन्दू-धर्म का पर्यायवाची मान लिया है। जिन बुराइयों के कारण हिन्दू बदनाम रहे हैं वे हिन्दू-धर्म में नहीं हिन्दुओं के सामाजिक ढांचे में रही हैं, और ये बुराइयां ऐसी हैं जिनका हिन्दू-धर्म की मूल-भावना से बिल्कुल भी संबंध नहीं रहा है। जाति-व्यवस्था का कोई समर्थन हम वेदों अथवा अन्य धर्म-ग्रंथों में नहीं पाते। गीता का जो श्लोक — "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः"— जाति-व्यवस्था के समर्थन में प्रायः उद्धृत किया जाता है उससे भी यह स्पष्ट है कि चारों वर्णों की सृष्टि गुण और कर्म के आधार पर की गई, न कि ऊँच और नीच के आधार पर। इस प्रकार अस्पृश्यता अथवा समाज में शूद्रों के हीन स्थान आदि का समर्थन भी हम हिन्दू-धर्म के नाम पर नहीं कर सकते। ये तो ऐसी खराबियां हैं जो हिन्दू-समाज में कुछ एतिहासिक परिस्थितियों के कारण जड़ पकड़ गई हैं। इन खराबियों को हिन्दू-धर्म का अंग मान कर हमने बड़ी ग़ल्ती की है, पर हिन्दू-समाज-व्यवस्था के आधार पर किसी राज्य का संगठन करने की ग़ल्ती उससे भी भयंकर होगी। धर्म, समाज और राज्य इन तीनों के भेद को समझ लेना और उन्हे एक दूसरे से अलग रखने का प्रयत्न करना सभी दृष्टियों से वांछनीय है! हिन्दू-धर्म एक व्यक्तिगत चीज़ है। उसके आधार पर कभी भी किसी समाज का संगठन नहीं हुआ है। हिन्दुस्तान में रहने वाले समाज में सदा ही कई धर्मों के मानने वाले मिलजुल कर रहते आए हैं। एक कुटुम्ब में ही कई धर्मों और मतों के मानने वाले व्यक्तियों के एक साथ रहने के अनेकों उदाहरण आज भी मिलते हैं। इस हिन्दू-समाज में, पिछली शताब्दियों में अनेकों खराबियां आ गई हैं, और उनके कारण आज वह मृतप्रायः अवस्था में है। उसमें यदि फिर से नये प्राणों का संचार करना है तो उन खराबियों को दूर करना होगा। हिन्दू-समाज के वर्त्तमान टूटे-फूटे और गले-सड़े ढांचे को लेकर हमने यदि एक हिन्दू-राज्य की सृष्टि करना चाही तो एक ओर तो हम इन खराबियों को स्थायी रूप दे देंगे और

दूसरी ओर एक ऐसा निकम्मा राजतंत्र खड़ा कर लेंगे जिसका बीसवीं सदी की दुनिया में कुछ महीनों के लिए खड़ा रहना भी असंभव होगा ।

हिंदू-राज्य : व्यावहारिक दृष्टि-कोण से

इस हिन्दू-राज्य की रूप रेखा क्या होगी और एक मुख्य प्रश्न तो यह है कि, अल्प-संख्यकों के साथ उसका बर्त्ताव कैसा होगा ? यह तो निश्चित है कि एक धर्म विशेष से संबद्ध होकर चलने वाले राज्य-तंत्र का समस्त आधार अल्पसंख्यकों के प्रति घृणा की भावना में होगा—हम मुसलमानों को दिन पर दिन अधिक उपेक्षा और तिरस्कार की दृष्टि से देखने के अभ्यस्त होते जायँगे । ऐसा राज्य निःसन्देह देश में रहने वाले अल्प संख्यकों के साथ अत्याचार का बर्त्ताव करेगा । उनके मारे काटे जाने, उनकी जायदाद लूटी जाने या जलाए जाने और उनकी स्त्रियों और बच्चों पर अत्याचार किए जाने की उसकी ओर से खुली छूट होगी इसका परिणाम यह होगा कि अल्प-संख्यक वर्ग या तो नष्ट हो जायगा या उसके ख़िलाफ़ विद्रोह कर देगा, या परिस्थितियों से समझौता करके बहु-संख्यक वर्ग के ग़ुलामों सा जीवन व्यतीत करने पर विवश हो जायगा । इनमें से कोई भी स्थिति वांछनीय नहीं मानी जा सकती । हमारे देश की सीमाओं में सितम्बर १९४७ से जनवरी १९४८ तक, सरकार के प्रबल विरोध के बावजूद भी, अल्प-संख्यकों पर जो अत्याचार हुए हैं उनसे हमारी प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा है । यदि इस प्रकार के अत्याचार फिर से शुरू किए गए तो बहुत जल्दी अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हमारी बची हुई साख भी खत्म हो जायगी । अल्प-संख्यकों के विरोध ने यदि खुले विद्रोह का रूप लिया तो उससे हमारे सामने एक बड़ी जटिल समस्या खड़ी हो जायगी, जिसे हम आसानी से नहीं सुलझा सकेंगे, और यदि यह विद्रोह गुप्त रूप से संगठित किया जाता रहा तो हम कह नहीं सकते कि वह कब और किस रूप में भड़क उठेगा ।

दो बातें हमारे देश के नासमझ वर्ग की ओर से अक्सर कही जाती हैं,

और वे दोनों ही खतरनाक हैं। एक तो यह कहा जाता है कि दुनिया की राजनीति से हमें क्या लेना देना है, हमें तो अपने देश से मतलब है। उसे हम जैसे चाहेंगे वैसे संघटित करेंगे, बाहर की दुनियां का हस्तक्षेप हम उसमें वर्दाश्त नहीं करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत यदि हमारे पक्ष में हुआ तो उससे हमें कौन सा बड़ा लाभ मिलने वाला है, और यदि वह हमारे विरुद्ध चला गया तो वह हमारा क्या विगाड़ लेगा। इस प्रकार की बात केवल वही व्यक्ति कर सकता है जो बीसवीं सदी की वस्तुस्थिति और बीसवीं सदी की राजनीति के क ख ग से भी परिचित नहीं है, और यह नहीं जानता कि दुनियां आज इतनी तेज़ी से सिकुड़ती जा रही है कि देशों की सीमाओं का अस्तित्व ही मिट सा गया है। आज कोई भी देश इस स्थिति में नहीं रह गया है कि अपने को विश्व की राजनीति से अलहदा रख सके। दूसरी बात यह कही जाती है कि बहु-संख्यक होने के नाते देश के मालिक हम हैं और यदि अल्प-संख्यक हमारे बीच रहना चाहते हैं तो उन्हें हमारे गुलाम बन कर रहना होगा। जहां जनतंत्र का अर्थ हर्गिज़ यह नहीं है कि जाति अथवा धर्म के आधार पर संगठित किसी बहुमत को अल्प-मत वालों के धर्म अथवा संस्कृति अथवा आत्म-सम्मान को, पैरों तले रौंदने का अधिकार मिला हुआ है, केवल मानवता की दृष्टि से ही इस प्रश्न को देखें तो मैं नहीं समझता कि इस प्रकार के विचार रखते हुए कोई मनुष्य अपने को सभ्य कहने का साहस कैसे कर सकता है। इस्लाम या किसी अन्य धर्म के मानने वालों को हम गुलाम बना कर रखें, इस कल्पना से जिस मनोवृत्ति को संतोष मिल सकता है वह निःसन्देह ओछे ढंग की मनोवृत्ति है, और ऐसी मनोवृत्ति जिन लोगों की हो उनके हाथ में राज्य का नेतृत्व दे देना उसे सर्वनाश की लपटों में झोंक देने के समान है।

इस प्रकार की किसी भी नीति पर चलने का स्वाभाविक परिणाम यह भी होगा कि पाकिस्तान से हमारे संबन्ध विगड़ते जायेंगे। पाकिस्तान से हमारे संबन्ध आज भी अच्छे नहीं हैं, और पाकिस्तान जब तक अपने को एक इस्लामी — (धार्मिक) राज्य घोषित करता रहेगा और अपने को वैसा बनाने के प्रयत्नों में लगा रहेगा, उससे हमारे संबंध सुधरने की आशा भी नहीं है।

पर उन संबधों को और भी विगाड़ने में योग देना हमारे लिए भी घातक ही होगा। मैं जानता हूँ कि जो लोग हिन्दू-राज्य की बात करते हैं उन्हें पाकिस्तान से हमारे संबंधों के बिगड़ने या सुधरने की कोई चिन्ता नहीं है और उनका अन्तिम लक्ष्य पाकिस्तान को हड़प लेना है। मैं मानता हूँ कि हमारे इस प्राचीन देश का हिन्दुस्तान और पाकिस्तान नाम के दो भागों में बांट दिया जाना प्रकृति के खिलाफ है, और मैं बड़ी उत्सुकता से उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जब यह अप्राकृतिक विभाजन मिट जाएगा और हिन्दुस्तान की एकता हमें वापिस मिल सकेगी, परंतु मैं पाकिस्तान को प्रेम के द्वारा जीतना चाहूँगा जब कि ये लोग शक्ति के बल से उसे जीत लेने की आकांक्षा रखते हैं, और मेरा लक्ष्य होगा कि उस मिले-जुले देश में हिन्दुस्तान की बड़ी कौमें, हिन्दू और मुसल्मान, भाई भाई के समान एक दूसरे से मिल जुल कर रहें जबकि ये लोग एक ऐसा अखण्ड हिन्दुस्तान बनाना चाहते हैं जिसमें मुसल्मान हिन्दुओं के गुलाम बन कर रहें। शक्ति के प्रयोग के द्वारा पाकिस्तान को खत्म कर देना आसान बात नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि पाकिस्तान अकेला नहीं है। ज्यों ज्यों पाकिस्तान के प्रति हमारी नीति असहिष्णुता के आधार पर बनती जाएगी, पाकिस्तान को इस्लाम की रक्षा के नाम पर मुसल्मान देशों का समर्थन मिलता जाएगा और ये मुसल्मान देश अपने आप में चाहें निर्बल हों परंतु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के दाव-पेंचों में उनका बड़ा महत्त्व है और इस कारण अमरीका जैसे बड़े राष्ट्र का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष समर्थन उसे आसानी से मिल सकेगा। हिन्द में हिन्दू-राज्य की स्थापना का अर्थ होगा बड़े पैमाने पर लड़े जाने वाले एक धार्मिक युद्ध को निमंत्रण देना। इस्लाम की रक्षा के नाम पर जहाँ बहुत से देश संगठित किए जा सकते हैं, हिन्दुत्व की रक्षा के नाम पर हम किसी एक देश को भी अपने साथ नहीं ले सकेंगे। हमारे पड़ौसी देश लंका, बर्मा, चीन, आदि जिनसे हमारा धार्मिक दृष्टिकोण कुछ मिलता-जुलता है, निःसन्देह हिन्दुत्व की रक्षा के लिए अपने स्वार्थों की बलि देने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे। ऐसी स्थिति में क्या हम लगभग सभी देशों को अपने विरुद्ध संगठित न कर लेंगे? यह कहना आसान है कि आज जब दुनियां

स्पष्टतः दो गुटों में बँट गई है, अमरीका और ब्रिटेन के हमारे विरोध ं जाने से हमें अनिवार्यतः रूस का समर्थन मिल सकेगा। मैं नहीं समझता वि किसी ऐसे संघर्ष में जिसका लक्ष्य हमारे इस जीर्ण शीर्ण रूढ़िग्रस्त और प्रति गामी समाज-तंत्र की रक्षा करना हो, अपने को युद्ध में झोंकने के लिए रूस उद्यत हो जाएगा।

धर्म, समाज, राष्ट्र और राज्यः सैद्धांतिक विश्लेपण

सच तो यह है कि इस संबंध में हमारा चिन्तन बड़ा अस्पष्ट और उलझा हुआ है। कई बातें ऐसी हैं जिन्हें एक दूसरे से अलहदा करके देखना चाहिए। पहिली बात तो धर्म और समाज के आपसी संबन्धों की ही है। बहुत दिनों से हम हिन्दू-समाज की जाति-व्यवस्था, अस्पृश्यता आदि कुरीतियों को हिन्दू धर्म के साथ संबद्ध करने की ग़ल्ती करते आए हैं। हमारी इन सामाजिक कुरीतियों का हमारे धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। हिन्दू धर्म कभी इन कुरीतिओं का समर्थन नहीं करता है। इन कुरीतियों को हम नष्ट करदें, अपने सामाजिक ढाँचे को हम बदल डालें तो भी हम अच्छे हिन्दू बने रह सकते हैं। हिन्दू-धर्म तो इतना व्यापक है कि वह प्रत्येक को अपने ढंग का जीवन बिताने और अपने विचारों पर दृढ़ रहने की स्वतन्त्रता देता है। जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, सभी मार्ग ईश्वर की ही ओर जाते हैं जैसे सभी नदियां समुद्र की ओर बढ़ती हैं। हिन्दू-धर्म में प्रत्येक व्यक्ति को अपने मार्ग पर चलने की आज़ादी है। दूसरी बड़ी ग़ल्ती जो हम करते हैं वह यह मान लेने की कि वर्त्तमान हिन्दू-समाज के आधार पर एक राष्ट्र का संघटन किया जा सकता है। हिन्दू-समाज का जो वर्त्तमान ढांचा है उसके आधार पर राष्ट्रीयता की भावना का विकास असंभव है। हिन्दू-समाज व्यक्ति से अपेक्षा करता है कि वह अपनी जाति और कुटुंब के प्रति अपनी प्राथमिक निष्ठा प्रदर्शित करे जबकि राष्ट्रीयता का तकाज़ा होता है कि व्यक्ति अन्य सभी सामाजिक मर्यादाओं से मुक्त होकर अपने को राष्ट्र का एक अविच्छिन्न अंग माने। जब तक जातपांत के भेद हैं,

अस्पृश्यता है, स्त्री का दर्जा पुरुष से नीचा माना जाता है तब तक किसी समाज में राष्ट्रीयता की शुद्ध भावना का विकास असम्भव है ।

यह निश्चित है कि हिन्दू-समाज के वर्त्तमान ढांचे के आधार पर राष्ट्रीयता की भावना विकसित करने का जो भी प्रयत्न किया जाएगा व्यर्थ होगा । हिन्दू-समाज में जिन लोगों की दिलचस्पी है उनका पहिला काम तो यह होना चाहिए उन रूढ़िगत परंपराओं को नष्ट करने में अपनी सारी शक्ति लगा दें जिन्होंने हिन्दू-समाज को खोखला और निस्सार बना दिया है । पच्चीस करोड व्यक्तियों के समाज को जीवन के आधुनिक मूल्यों के आधार पर पुनर्निमित कर देना एक इतनी बड़ी सामाजिक क्रान्ति होगी जिसकी तुलना इतिहास में कठिनाई से मिलेगी और यह हमारे देश व मानव-समाज के प्रति सचमुच एक बहुत बड़ी सेवा होगी । परन्तु इस बड़ी सामाजिक क्रांति के बाद क्या हिन्दू-समाज का संगठन एक राष्ट्र के रूप में किया जा सकेगा ? मैं मानता हूँ कि ऐसा करना आसान ज़रूर हो जाएगा, पर क्या वह वांछनीय भी होगा ? राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म अब तक सदा ही एक गौण वस्तु रहा है भारतीय राष्ट्रीयता के अन्तर्गत तो उन सभी लोगों को लेना बुद्धिमत्ता होगी जो इस देश में रहते हों और इसे अपना देश मानते हों । राष्ट्रीयता को धर्म के साथ सम्बद्ध कर देना सदा ही खतरनाक होता है । स्वयं राष्ट्रीयता के पीछे प्रायः एक ऐसे कट्टरपन की भावना रहती है जो मज़हबी कट्टरपन से कम नहीं । उसे धर्म के साथ मिला देने से तो ऐसी शक्तियां उत्पन्न होंगी जिनकी तुलना में मध्य-युग के धार्मिक संघर्ष फीके पड़ जाएँगे । और यदि हिन्दू-समाज को हम राष्ट्रीयता का रूप देना ही चाहते हैं तो हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि अब तो यह सिद्धांत कि प्रत्येक राष्ट्र का विकास राज्य के रूप में होना चाहिए बहुत पुराना पड़ गया है । कभी यदि हिन्दू-राष्ट्र की कल्पना मूर्त्त-रूप ले भी सकी तो यह आवश्यक नहीं कि उसकी सीमाएँ राज्य की सीमाओं का संस्पर्श करें ही । आज के युग में तो यह बिल्कुल संभव है, बल्कि आवश्यक है, कि कई राष्ट्र के व्यक्ति एक राज्य के अन्तर्गत मिल जुल कर, कंधे से कंधा भिड़ा कर, भाई भाई के समान, प्रेम और सहृदयता की भावना को लिए हुए, काम करें ।

राष्ट्रीयता एक सांस्कृतिक अनिवार्यता है और राज्य शासन की एक आवश्यक व्यवस्था। प्रत्येक सांस्कृतिक विभिन्नता को यदि एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में संगठित करने का प्रयत्न किया गया तब तो संसार इतने अधिक राज्यों में बँट जाएगा, और वे छोटे छोटे राज्य अपने दिन प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करने में इतने अधिक असमर्थ होंगे, कि उनके नागरिकों के लिए अपना पेट भरना भी कठिन हो जाएगा। आज की प्रमुख प्रवृत्तियों का यदि हम विश्लेषण करें तो हम स्पष्ट देख सकेंगे कि एक ओर तो सांस्कृतिक विभिन्नता बढ़ती जा रही है और दूसरी ओर राजनैतिक इकाइयां बड़ी होती जा रही हैं। ऐसी परिस्थिति में हम केवल यही कर सकते हैं कि सांस्कृतिक इकाइयों और राजनैतिक इकाइयों को एक दूसरे से अलग करके देखें और कोई ऐसा रास्ता निकालने का प्रयत्न करें जिसमे धर्म भाषा और संस्कृति की दृष्टि से एक दूसरे से विभिन्न सांस्कृतिक इकाइयां एक बड़ी राजनैतिक इकाई के अन्तर्गत साथ साथ रह सकें।

धर्म और राजनीति के संबंधों का विश्लेषण

इस प्रश्न को हम किसी भी दृष्टि से देखें हम एक ही निर्णय पर पहुँचेंगे और वह यह है कि हमें अपने देश का राजनैतिक विकास एक शुद्ध, भौतिक जनतंत्र के रूप में करना चाहिए। राज्य को धर्म के साथ संबद्ध करने का प्रयत्न यूरोप में आज से तीन सौ वर्ष पहिले ठुकरा दिया गया था। आज हमें इस प्रकार के किसी मूर्खतापूर्ण प्रयत्न में अपनी शक्तियों को, जिन्हें दूसरे रचनात्मक क्षेत्रों में लगाने की आवश्यकता है, नष्ट नहीं करना चाहिए। धर्म और विशेष कर हिन्दू धर्म, मनुष्य के जीवन की व्यक्तिगत वस्तु है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक मनुष्य को अपना मार्ग निश्चित करने का अधिकार होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य को यह स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह जिस धर्म पर चलना चाहे चल सके। इसमें केवल यही एक शर्त्त लगाई जा सकती है कि उसकी धार्मिक स्वतंत्रता किसी भी प्रकार से दूसरे मनुष्य की धार्मिक स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक

न हो और न उससे समाज में किसी अनाचार के फैलने की सम्भावना हो। जहां राज्य पर यह प्रतिबन्ध आवश्यक है कि वह व्यक्ति के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करे किसी धर्म को भी यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह राजनैतिक जीवन पर आक्रमण करे। धर्म के नाम पर जब कभी राजनीति में हस्तक्षेप किया गया है, असहिष्णुता और धार्मिक हिंसा को प्रश्रय मिला है। राज्य और धर्म दोनों के क्षेत्र इतनी स्पष्टता से एक दूसरे से भिन्न हैं कि उनके सम्बन्ध में किसी प्रकार की ग़लतफ़हमी होना ही नहीं चाहिए। सबसे अच्छा धर्म वह है जो व्यक्ति के दृष्टिकोण को शुद्ध, सात्त्विक और तेजस्वी बनाए और सबसे अच्छा राज्य वह है जो सामाजिक जीवन के उन सभी पक्षों को संघटित और विकसित कर सके जिनके द्वारा व्यक्ति अपने दिन प्रति दिन की आवश्यकताओं को ठीक से प्राप्त कर सके और उन्हें प्राप्त करने के प्रयत्न में उसे इतनी फ़ुर्सत भी मिल सके कि उसकी निर्माणात्मक वृत्तियाँ समुचित विकास पा सकें।

मैं जब यह कहता हूँ कि राज्य और धर्म के क्षेत्रों को एक दूसरे से अलहदा रखना चाहिए, मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य को उन बहुत सी कुरीतियों में दखल देने का अधिकार नहीं होना चाहिए जो हमारे समाज में प्रवेश पा चुकी हैं। धर्म और समाज के उस अन्तर को जिसका स्पष्टीकरण मैंने ऊपर किया है हमें भुलाना नहीं चाहिए। धार्मिक दृष्टि से जहाँ मुझे यह आज़ादी होनी चाहिए कि मैं चाहूँ तो हिन्दू धर्म का पालन करूँ, या इस्लाम, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन अथवा किसी अन्य धर्म को स्वीकार कर लूं, और हिन्दू-धर्म में भी मुझे यह सुविधा होनी चाहिए कि मैं चाहूँ तो विष्णु की पूजा करूँ अथवा शिवजी की आराधना में ही अपना सारा समय लगा दूं, साकार ब्रह्म को मानूं अथवा निराकार को, मूर्ति पूजा में विश्वास रखूं अथवा न रखूं, मुझे यह अधिकार नहीं होना चाहिए कि मैं अपने को इस कारण दूसरे से बड़ा मान कि मैं ब्राह्मण के कुल में पैदा हुआ हूँ और वह किसी अन्य वर्ण में, और न यह अधिकार होना चाहिए कि किसी मनुष्य की अवहेलना मैं इस कारण करूँ कि वह अस्पृश्य है अथवा स्त्री-समाज को उसके नैसर्गिक अधिकारों से वंचित

रखूं। मैं समझता हूँ कि किसी भी अच्छे लोकराज्य के लिए यह आवश्यक कि वह क़ानून के द्वारा इस प्रकार की सामाजिक असमानता को मिटाने प्रयत्न करे और उन लोगों को सख़्त सज़ाएँ दे जो, चाहे तीन वेदों के ज्ञाता या चारों वेदों के पंडित, इस प्रकार की असमानता को क़ायम रखना चाह हैं। भारतीय जनतंत्र के लिए यह आवश्यक है कि वह उन सब कुरीतियों क मिटावे जो धर्म के नाम पर आज हमारे समाज में प्रचलित हैं। इस प्रकार सामाजिक क़ानून सभी देशों में बनाए जा रहे हैं और वस्तुस्थिति तो यह है कि किसी भी देश में वे इतने आवश्यक नहीं हैं जितने हमारे देश में। हमारे सामाजिक कुरीतियों के लिए हमारे धर्म में कोई स्थान नहीं है, और पिछले कई हज़ार वर्षों में उनके सशक्त बन जाने का सबसे बड़ा कारण यही रहा है कि राज्य की ओर से उन्हें मिटाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। मुसलमान शासकों ने हमारे सामाजिक रीति-रिवाजों में हस्तक्षेप करना नहीं चाहा। अंग्रेज़ों ने अपने शासन के प्रारंभिक काल में सती प्रथा और बाल-हत्या आदि के मिटाने की दिशा में कुछ प्रयत्न किया, परन्तु १८५७ के बाद उन्होंने सामाजिक-प्रश्नों से अपने को तटस्थ रखने का दृढ़ निश्चय कर लिया। आगे आने वाले वर्षों में भारतीय जनतन्त्र के सामने सबसे बड़ा काम सामाजिक असमानता के आधार पर स्थापित इन अमानुषिक कुरीतियों को मिटाना होगा। कोई भी ऐसा राज्य जिसका आधार हिन्दू-धर्म अथवा हिन्दू-समाज के वर्तमान ढांचे पर हो वह काम नहीं कर सकता। हिन्दू-समाज को ही यदि हम जीवित, सतेज और क्रियाशील बनाना चाहते हैं तो उसके लिए यह आवश्यक है कि हमारा शासन-तन्त्र विशुद्ध जनतंत्रीय सिद्धान्तों के आधार पर स्थापित हो।

महात्मा गांधी और हिन्दू राष्ट्रीयता

सांप्रदायिक विद्वेष के उस विषैले वातावरण में, जो विभाजन के आधार पर स्वाधीनता मिलने के परिणाम-स्वरूप देश में फैल गया था, हिन्दू-राज्य की कल्पना को प्रोत्साहन मिला, और जो इस प्रश्न पर गम्भीरता से सोचने की क्षमता नहीं रखते थे उनके लिए यह एक आश्चर्य की बात थी कि इस विचार

का सबसे अधिक विरोध एक ऐसे व्यक्ति के द्वारा किया गया जिसने हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज के समस्त इतिहास में उसकी सबसे अधिक सेवा की थी। गांधीजी ने हिन्दू-धर्म की जो सेवा की और उसके सुधार में जो महत्त्वपूर्ण और सफल प्रयत्न किए उनकी तुलना इतिहास में नहीं मिलती। गांधीजी निःसंदेह सबसे महान् हिन्दू थे। उनके जीवन और सिद्धान्तों पर दूसरे धर्मों का प्रभाव भी था, परन्तु उनका दृष्टिकोण मूलतः हिन्दू था। अपने जीवन की सभी प्रवृत्तियों में गांधीजी ने हिन्दू धर्म के मूल-सिद्धान्तों को आत्मसात् करने का प्रयत्न किया। हिन्दू-धर्म को उन्होंने उसके किसी एक आंशिक रूप में, कर्म, ज्ञान या उपासना के किसी एक क्षेत्र में स्वीकार नहीं किया, उनका प्रयत्न तो उसके सर्वांगीण रूप को आत्मसात् करने का रहा। मानव-जीवन के लक्ष्य निर्देश के संबंध में हिन्दू-धर्म ने जो सर्वश्रेष्ठ विचार दिए हैं उन सभी का प्रभाव हम गांधीजी के जीवन पर पाते हैं। उपनिषदों के प्रति गांधीजी की असीम श्रद्धा थी। गीता को वह अपना गुरु मानते थे और उसका अनवरत पारायण उनके नियमित जीवन का एक अंग बन गया था। रामायण के प्रति उनके मन में ऐसी श्रद्धा थी जो किसी अच्छे से अच्छे वैष्णव के मन में हो सकती है। गांधी जी हिन्दू-धर्म के सिद्धांतों पर ही विश्वास नहीं रखते थे, उसके द्वारा बताए गए आचार-विचार और यम-नियम आदि का भी पालन करते थे। दूसरे धर्मों के प्रति आस्था गांधी जी ने हिन्दू-धर्म से ही प्राप्त की थी। वह अक्सर कहा करते थे कि वह अपने को एक अच्छा मुसलमान, अच्छा ईसाई, अच्छा पारसी अथवा अच्छा बौद्ध इसीलिए मानते थे कि वह एक अच्छे हिन्दू थे।

यह सब होते हुए भी हम देखते हैं कि गांधी जी ने हिन्दू-धर्म के प्रति सदा अपनी आस्था प्रगट करते हुए भी हिन्दू समाज-तंत्र की सभी बातों को अनुकरणीय नहीं माना। अपने जीवन में बहुत जल्दी उन्होंने यह देख लिया था कि अस्पृश्यता हिन्दू-धर्म की मूल-भावनाओं के साथ मेल नहीं खाती और हिन्दू धर्म-ग्रन्थों से भी उसका समर्थन नहीं मिलता। दक्षिण अफ्रीका से ही उन्होंने अछूतों से जातीयता के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव करना छोड़ दिया

था। हिन्दुस्तान आने के बाद उन्होंने अस्पृश्यता-निवारण को अपने चतुर्मुखी रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग बनाया। १६३२ के सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बाद से तो उन्होंने अपनी सारी शक्ति अछूतों की दशा सुधारने में लगा दी। इसी संबंध में उन्होंने देश भर का दौरा भी किया और दो बड़े उपवास रखे। उनके द्वारा स्थापित हरिजन सेवक संघ ने पिछले दस बारह वर्षों में देश भर में, जिसमें कई देशी रियासतें भी शामिल हैं, हरिजनों की नैतिक राजनैतिक और आर्थिक दशा सुधारने की दिशा में बहुत काम किया है। गांधी जी की दृष्टि में हरिजन-सुधार का काम राजनैतिक आन्दोलन से भी अधिक महत्त्व का था। इसी प्रकार स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिलाने और उनका सामाजिक स्तर ऊँचा उठाने की दृष्टि से भी गांधी जी ने बहुत बड़ा काम किया। १६२०-२१ के सत्याग्रह आन्दोलन में पहिली बार भद्र महिलाएँ सामाजिक श्रृंखलाओं को तोड़ कर बाहर आईं और पुरुषों से कंधे से कंधा भिड़ाकर धरने दिए, लाठियों के प्रहार सहे, शराब बन्दी और विदेशी कपड़े के आन्दोलन चलाए और उनमें से अधिकांश जेल भी गईं। हमारे देश में नारी-जागरण का तो इतिहास ही तभी से शुरू होता है। यह आन्दोलन लगातार बढ़ता गया है और इसी का परिणाम है कि आज हम अपने देश में के महिला वर्ग को इतना योग्य और प्रगतिशील पा रहे हैं कि केन्द्रीय सरकार का मंत्रित्व और महत्त्वपूर्ण विदेशी दूतावासों की अध्यक्षता भी उनकी पहुँच से बाहर नहीं रह गए हैं।

हिन्दू समाज के लम्बे इतिहास को लें तो हम देखेंगे कि उसमें सुधारकों की एक अनवरत परंपरा चली आ रही है। जब ब्रह्म-ज्ञान के संबंध में भ्रान्ति फैली तो शंकराचार्य ने अद्वैतवाद का प्रचार किया। जब जनता शुष्क ज्ञान के मरुस्थल में भटकती हुई बहुत दूर तक चली गई तब रामानुजाचार्य और वल्लभाचार्य ने भक्ति का सन्देश सुनाया। जब हिन्दू-समाज में ऊँच-नीच और छुआछूत का भेद ज्यादा फैला तो कबीर, नानक और दादू जैसे संत कवि सामने आए जिन्होंने राम और रहीम की एकता और 'हरि को भजे सो हरि का होई' के सिद्धान्तों पर जोर दिया, जब भक्ति के उच्छृंखल प्रवाह में समाज

की मर्यादाएँ शिथिल होती और टूटती दिखाई दीं तब इसी समाज ने तुलसीदास जैसा महान् कवि सुधारक भी उत्पन्न किया जो अपनी लेखनी के प्रभाव से टूटते हुए बांधों को फिर से मज़बूत बनाने में सफल हुआ। सुधारकों की यह अनवरत परंपरा हिन्दू-समाज के जीते-जागते होने की निशानी है। परन्तु मैं समझता हूँ कि हिन्दू-समाज ने गांधी से बड़ा कोई सुधारक पैदा नहीं किया। गांधी जी ने हिन्दू समाज की मूल कमज़ोरी को पहिचाना। उन्होंने देखा कि असमानता की भावना को हिन्दू-समाज से जब तक बिल्कुल ही नष्ट नहीं कर दिया जाएगा वह न तो पनप सकेगा और न जीवित ही रह सकेगा, और वह उसे दूर करने के प्रयत्न में जुट पड़े। इस काम में गांधी जी को जितनी सफलता मिली वह पहिले किसी सुधारक को नहीं मिली थी। यह सच है कि पहले किसी सुधारक को काम करने की ऐसी व्यापक सुविधा भी नहीं मिली थी। बुद्ध और शंकराचार्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक पैदल यात्रा करनी पड़ती थी। उनके पास प्रचार के इतने साधन भी नहीं थे। परन्तु यह भी सच है कि सुधार के प्रश्न को गांधी जी ने जितने सर्वांगीण रूप में लिया उतना पहिले के किसी सुधारक ने नहीं लिया था। गांधी जी न केवल आचार की दृष्टि से सभी युगों के सबसे महान् हिन्दू थे, वरन् हिन्दू धर्म के सुधारकों में भी उनका स्थान सबसे ऊँचा था।

गांधी जी ने अपनी सेवाओं के द्वारा वह वातावरण बना दिया जिसके बिना हिन्दू-समाज का किसी प्रकार का संगठन असम्भव था। समाज-सुधार के प्रश्न को जब गांधी जी ने अपने हाथ में लिया था तब हिन्दू समाज इतनी गिरी हुई दशा में था, उसमें इतने छिद्र और अभाव थे कि उसके आधार पर किसी संगठन की नींव नहीं डाली जा सकती थी। हिन्दू-संगठन की आवाज़ तो कुछ दूसरे लोगों के द्वारा, और विभिन्न उद्देश्यों को दृष्टि में रखते हुए, उठाई गई, परन्तु हिन्दू-समाज को संगठन के लिए तैयार करने का काम किसी ने उतनी अच्छी तरह से नहीं किया जितना गांधी जी ने। परन्तु, गांधी जी इस गठन की मर्यादाओं को भी जानते थे। हिन्दुओं के अपनी सामाजिक कुरीतियाँ दूर करने और सामाजिक रूप से संगठित होने में उनका विश्वास

था, पर उन्होंने कभी हिन्दू-समाज को भारतीय राष्ट्र का पर्यायवाची समझने की ग़लती नहीं की। हिन्दू-धर्म के मूल तत्त्वों ने ही उन्हें यह सिखाया था कि भारतीय राष्ट्र बनने की एक आवश्यक शर्त यह है विभिन्न धर्मों को मानने वाले व्यक्ति सामाजिक दृष्टि से अपने को चाहे किसी भी रूप में संगठित करें, राष्ट्रीय दृष्टि से उन्हें एक दूसरे से मिल जुल कर काम करने की आवश्यकता है। जीवन के धार्मिक पक्ष की गांधी जी ने कभी अवहेलना नहीं की। वह यह आशा करते थे कि प्रत्येक हिन्दू अच्छा हिन्दू बनेगा, प्रत्येक मुसलमान अच्छा मुसलमान, प्रत्येक ईसाई अच्छा ईसाई और प्रत्येक पारसी अच्छा पारसी, और इस प्रकार अपने धर्म पर ठीक से चलते हुए ही, एक शुद्ध धार्मिक जीवन बिताते हुए ही, प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की सच्ची सेवा कर सकेगा। पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित अन्य सुधारवादी नेताओं और गांधी जी में सबसे बड़ा अन्तर यही रहा है कि जब कि अन्य नेता यह चाहते रहे हैं कि प्रत्येक व्यक्ति अपने धार्मिक सम्बन्धों को भूल कर अपने को राष्ट्रीयता का ही अनन्य उपासक बना ले, गांधी जी ने सदा इस बात पर जोर दिया कि व्यक्ति को पहिले अपने धर्म का पालन करना चाहिए और तभी वह राष्ट्र की सच्ची सेवा कर सकेगा।

गांधी जी चाहते थे कि हिन्दू धर्म के उदात्त सिद्धान्तों के आधार पर अपने आपको संगठित करके एक शुद्ध और स्वस्थ हिन्दू-समाज भारतीय राष्ट्र के कल्याण में योग दे। उन्होंने जीवन भर यह प्रयत्न किया कि इस प्रकार के आदर्श हिन्दू-समाज की स्थापना की जा सके। उनके रचनात्मक कार्यक्रम का प्रमुख उद्देश्य यही था। सच तो यह है कि गांधी जी जीवन में प्रत्येक वस्तु को उसके उचित स्थान पर रखना चाहते थे। वह चाहते थे कि हिन्दू-समाज से वे सब कुरीतियाँ मिट जाएँ जिनका आधार हिन्दू-धर्म में नहीं है, और इस समाज से वह अपेक्षा करते थे कि वह देश के अन्य समाजों के साथ मिल जुल कर भारतीय राष्ट्र का एक उपयोगी अंग बन सके, जिस प्रकार भारतीय राष्ट्र से उनकी अपेक्षा यह थी कि वह स्वाधीनता प्राप्त करके मानव-समाज में एक प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करे और मानव-सम्बन्धों में सत्य और अहिंसा की स्थापना कर सके। सामाजिक क्षेत्र में गांधी जी का लक्ष्य था एक सुधरे हुए हिन्दू समाज की

स्थापना और राजनैतिक क्षेत्र में वह चाहते थे एक भौतिक, जनतंत्रीय राज्य का निर्माण।

एक सुधारवादी हिन्दू समाज और एक भौतिक जनतंत्रीय राज्य की स्थापना के दोहरे प्रयत्नों में गांधी जी लगे हुए थे जब ३० जनवरी की शोक-भरी संध्या को वह एक हिन्दू हत्यारे की गोलियों का शिकार बने। जहां लोगों को यह सोच कर हैरानी होती है कि अहिंसा का यह महानतम पुजारी हिंसा का शिकार हुआ, यह भी कम अचंभे में डालने वाली बात नहीं है कि हिन्दू-समाज के इस महानतम शुभेच्छु और सुधारक को एक ऐसी विचार-धारा का शिकार भी होना पड़ा जिनका अन्तिम लक्ष्य देश में एक हिन्दू-राज्य की स्थापना करना था। जिस विचार-धारा का परिणाम गांधी जी की हत्या के रूप में हमारे सामने आया उसके निकट अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके पीछे हिन्दू-धर्म या हिन्दू-समाज या हिन्दू-राष्ट्र की सेवा करने की कोई भावना नहीं थी। उस विचार-धारा का स्पष्ट उद्देश्य राजनैतिक सत्ता प्राप्त करना था और केवल जनता को भुलावे में डालने के लिए उसके प्रणेताओं ने कुछ आवश्यक नारों का आविष्कार कर लिया था। इन नेताओं में न तो हिन्दू धर्म के प्रति कोई आस्था थी और न हिन्दू-समाज या हिन्दू संगठन से कोई प्रेम। एक विषैले सांप्रदायिक वातावरण में उनका बेईमानी से भरा हुआ अनवरत प्रचार लोक-मत को भ्रम में डालने में सफल हो रहा था और इस अस्थायी आवेश से बौखलाई हुई जनता के द्वारा समय समय पर अभिव्यक्त की जाने वाली भाव-नाओं में अपनी इच्छाओं की प्रतिध्वनि देख कर उन्हें यह विश्वास हो चला था कि गांधी को मार्ग से हटा देने पर वह जनता के इस क्षणिक आवेश से पूर्ण लाभ उठा सकेंगे और राजनैतिक सत्ता अपने हाथ में ले सकेंगे। यह तो उन्हें बाद में पता लगा कि जिस अमर व्यक्ति को उन्होंने मारना चाहा था वह जीवन और मृत्यु की सीमाओं से कभी का ऊपर उठ चुका था और हिन्दू-धर्म के प्रति उसका असीम प्रेम हिन्दू-मात्र के हृदय में उसके लिए इतना ममत्व और इतनी श्रद्धा उत्पन्न कर चुका था कि उसके पार्थिव शरीर के नष्ट हो जाने के बाद भी हिन्दू-राष्ट्रीयता के आधार पर हिन्दू राज्य की स्थापना

की भ्रामक कल्पना पनप नहीं सकती थी ।

फासिस्ट मनोवृत्ति पर एक बड़ा आक्रमण

इस फ़ासिस्ट विचार-धारा के पणेताओं ने ग़ल्ती यह की कि उन्होंने गाँधीजी को एक साधारण मनुष्य के मापदण्ड से नापना चाहा । उनका अनुमान यह था कि गाँधीजी के मार्ग से हट जाने के वाद वे आसानी से हिन्दू-लोकमत का समर्थन पा सकेंगे और कांग्रेस के नेताओं के हाथ से शासन का सूत्र छीन लेने में उन्हें कठिनाई नहीं होगी । गांधीजी के वाद जवाहरलाल नेहरू व अन्य प्रमुख नेताओं की हत्या उनके पूर्व निर्धारित कार्य-क्रम का अंग थी । गांधीजी के विरुद्ध जिस विषैले प्रचार में वे लोग लगे हुए थे उसने स्वयं उन्हें इतना अंधा वना दिया था कि वे भूल गए कि इस देश के सभी व्यक्तियों में चाहे वे किसी विचार-धारा को मानने वाले हों, गांधीजी के व्यक्तित्व के प्रति इतना आदर और श्रद्धा का भाव था कि मरने के वाद सहज ही उनके जीवितावस्था की तुलना में कहीं अधिक प्रभावशाली होने की सम्भावना थी । ये लोग उन मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओं के संबंध में भी विल्कुल वेखवर थे जो इन परिस्थितियों में गांधीजी की हत्या से पैदा हो सकती थीं । गांधीजी की हत्या ने वड़े स्पष्ट रूप में यह सिद्ध कर दिया कि भारतीय विशेपकर हिन्दू जनता के मन में उनके प्रति जो प्रेम था वह विचार धाराओं और स्वार्थों से ऊपर उठ कर, और व्यक्तिगत, था । गांधी हममें से लाखों व्यक्तियों के जीवन में इतना घुल मिल गए थे कि उनके अपने वीच से चले जाने के वाद हमने यह महसूस किया कि हमारा अपना निकटतम, प्रियतम और पूज़्यतम व्यक्ति हमारे पास से चला गया है । उनकी मृत्यु ने एक गलत दिशा में तेज़ी के साथ वढ़ते हुए लोकमत को अचानक सही दिशा में मोड़ दिया । जो लोग एक ग़लत दिशा में सोचने लगे थे उन्होंने अपनी ग़ल्ती महसूस करना शुरू की और जो लोग सोच ही नहीं रहे थे उन्हें सही दिशा में सोचने के लिए मजबूर होना पड़ा । देश के लोकमत पर गाँधीजी की हत्या का वड़ा व्यापक और गहरा प्रभाव पड़ा । सरकार अपने समस्त सैनिक वल और प्रचार-विभाग के द्वारा

वर्षों में जो काम नहीं कर पाती गांधीजी ने मर कर एक क्षण में वह कर दिखाया। फ़ासिस्ट विचार-धाराओं ने अचानक अपने साम्ने एक सशक्त और दुर्भेद्य बाँध खड़ा हो जाते हुए देखा और उस एक क्षण में जनतन्त्र की समर्थक प्रवृत्तियां सौगुना मज़बूत बन गई।

गांधीजी की मृत्यु ने देश भर में ऐसा वातावरण तैयार कर दिया जिसमें सरकार आसानी से फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को कुचलने में अपनी सारी शक्ति लगा सकी। गांधीजी की मृत्यु के कुछ समय बाद ही उसने राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ को ग़ैर कानूनी करार दे दिया, राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ और हिन्दू महासभा के बड़े बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर लिया और अलवर और भरतपुर के महाराजाओं पर, जिनके विरुद्ध साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देने के खुले इल्जाम थे, अपने राज्य के शासन प्रबन्ध से सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने का आज्ञा लगा दी। इसके पहिले राष्ट्रीय स्वयँ सेवक संघ की बढ़ती हुई सांम्प्रदायिक प्रवृत्तियों को रोकने के लिए शासन के ऊँचे स्तरों पर कई बार चर्चा उठी थी पर उसके पीछे लोकमत का प्रबल समर्थन होने के कारण सरकार को वैसा करना आसान नहीं लगा था। गांधीजी की हत्या के बाद लोकमत में जो जबर्दस्त परिवर्त्तन हुआ उसने सरकार द्वारा कड़े से कड़ा कदम उठाए जाने के एक उचित वातावरण पैदा कर दिया।

सरकार ने इस सम्बन्ध में जो कुछ किया वह तो उचित था ही, परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि लोकमत को, चाहे वह कितना ही ग़लत क्यों न हो, केवल दमन के द्वारा कुचलना कभी सभव नहीं होता। जनतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी राय रखने और उसे पूरी तौर से अभिव्यक्त करने का हक होता है, परंतु स्वतन्त्र विचारों की अभिव्यक्ति जब एक ऐसा रूप ले लेती है कि राज्य की स्थिति ही खतरे में पड़ती दिखाई देती हो तो उस पर नियंत्रण लगाना जरूरी हो जाता है। फिर भी हमें स्पष्ट तौर से यह मान लेना चाहिए कि बड़े से बड़े राज्य का बड़े से बड़ा सैनिक बल भी अधिक से अधिक ग़लत विचार-धारा को कुचलने में सदा ही समर्थ नहीं हो पाता। विचार को तलवार के द्वारा नहीं काटा जा सकता। गलत विचार को मिटाने का सही तरीका

केवल एक ही है और वह यह है कि उसके बदले सही विचार का प्रचार किया जाए। यह कहना शायद ग़लत नहीं होगा कि सरकार ने शान्ति और व्यवस्था की दृष्टि से कड़ी कार्यवाही करते हुए भी उस फ़ासिस्ट विचार-धारा का मुक़ाबिला करने के लिए जो देश में फैल गई थी, प्रचार की दिशा में कोई बड़ा कदम नहीं उठाया, और न सही लोकतंत्रीय विचार-धारा के आधार भूत सिद्धांतों को ही जनता को समझाने का कोई प्रयत्न किया। इसमें सन्देह नहीं कि फ़ासिस्टी शक्तियों को कुचल डालने में सरकार को अभूतपूर्व सफ़लता मिली—इसका प्रमुख श्रेय निःसन्देह उस स्वयं उभर आने वाले वातावरण को है—जो गांधीजी की मृत्यु के पश्चात् इस देश में बन गया था, परंतु, लोक तंत्रीय विचार-धारा के समुचित प्रचार के अभाव में यह बिल्कुल संभव है कि फासिस्टी नेता अपनी कार्य-प्रणाली को बदल दें और अपने उस काम को गुप्त रूप से और अप्रत्यक्ष ढंग से करते रहें जिसे स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से करते रहना सरकार और जनता के बदले हुए दृष्टिकोण को देखते हुए असम्भव हो गया है। सरकार की आलोचना आज खुले आम उतनी सुनाई नहीं देती परंतु आज भी जनता का एक वर्ग तो ऐसा मौजूद है ही जिस पर सरकार के खिलाफ किए जाने वाले प्रचार का बड़ी जल्दी असर होता है और जिसे हम दबे शब्दों में कभी सरकार की काश्मीर-सम्बन्धी नीति की आलोचना करते हुए पाते हैं और उसकी वैदेशिक नीति पर छींटाकशी करते हुए और कभी रियासती विभाग की कार्य प्रणाणी की तुलना हिटलर और स्टैलिन के काम के तरीक़ों से करते हुए पाते हैं।[१] सार्वजनिक जीवन में हम जिन लोगों को इस प्रकार की बातों में संलग्न पाते हैं वे स्वयं संभवतः प्रभावहीन और किसी प्रकार की

१ ये पंक्तियाँ अप्रैल १९४८ में लिखी गईं थीं। अप्रैल और अगस्त के बीच में शासन का नैतिक धरातल इतनी तेजी से गिरा है कि जनता की आलोचना की प्रवृत्ति को चारों ओर से राशि राशि प्रोत्साहन मिलते चले गए हैं। समाजवादी दल द्वारा इस प्रवृत्ति को शुद्ध राजनैतिक अभिव्यक्ति मिली। उधर कम्यूनिस्टों ने अवसर का लाभ उठा कर, अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहा। परंतु, इस समस्त वातावरण में, प्रच्छन्न रूप से साम्प्रदायिक फ़ासिस्ट शक्तियां

हानि न पहुँचा सकने वाले व्यक्ति हैं, परंतु उनकी भावनाओं में स्पष्टतः ऐसे
लोगों के विचारो की प्रतिध्वनि है जिनका अस्तित्व लोकतंत्रीय राज्य के लिए
खतरे की चीज़ है, और इस खतरे को मिटाने का केवल एक ही रास्ता है, सही
विचारों का अथक और अनवरत प्रचार। इस प्रकार के प्रचार का उत्तर दायित्व
सरकार पर ही नहीं है, प्रत्येक समझदार व्यक्ति पर है जो देश में मज़बूती के
साथ लोकतंत्र की स्थापना देखना चाहता है। गांधीजी ने अपने खून से लोक-
तंत्र की नींव को मज़बूत बनाया है और उस पर एक भव्य प्रासाद खड़ा करने
का काम हमारे लिए आसान कर दिया है। किसी भी रूप में फासिस्ट विचार
धाराओं की उपस्थिति देश के शासकों व लोक नेताओं दोनों के लिए एक ऐसी
चुनौती है जिसका प्रत्युत्तर देना उनका एक मात्र कर्त्तव्य हो गया है, और जिस सीमा
तक यह उत्तर सही और प्रभाव-पूर्ण होगा उसी सीमा तक यह कहा जा सकेगा कि
हम गांधीजी के बताए हुए रास्ते पर चलने का सच्चा प्रयत्न कर रहे हैं।

भारतीय वातावरण में फासिज्म के पोषक तत्त्व

फासिस्ट प्रवृत्तियों के विकास के लिए सबसे उपयुक्त वातावरण ऐसे देशों
में होता है जहां जन-तंत्र की परंपराएँ बहुत गहरी न हों, और वह विकास
ऐसे अवसर पर और भी गतिशील हो जाता है जब युद्ध, सत्ता-परिवर्तन अथवा
किसी अन्य बड़ी राजनैतिक घटना के कारण देश की व्यवस्था एक अस्थाई
समय के लिये चकनाचूर हो जाती है और चारो ओर का वातावरण अनि-
श्चय अस्थायित्व और आशंकाओं से भर जाता है। प्रथम महायुद्ध के बाद
इटली और जर्मनी इस प्रकार की मनोवृत्ति के विकास के लिए बहुत उपयुक्त

अपने को फिर से संगठित करने के प्रयत्न में जुट पड़ी हैं, केवल उनकी अभि-
व्यक्ति का ढंग बदल गया है। स्वयँ गांधीजी को, जिन्होने हिन्दू-राज्य की
कल्पना के विरोध में अपने प्राणों की बलि दी, हिन्दू-जीवन की प्रखरता का
प्रतीक बना कर उसे अन्य संस्कृतियों से श्रेष्ठ सिद्ध करने और देश का राज-
नैतिक भविष्य उसके मूल-सिद्धान्तों पर निर्माण करने के आवाहन के प्रयत्न भी
हम अपने आस पास देखते हैं।

देश थे। इटली के ताजे इतिहास का अध्ययन फ़ासिज्म के विकास के कारणों पर बड़ा उपयुक्त प्रकाश डालता है। इटली पिछले कई वर्षों से जर्मनी से मित्रता का दावा कर रहा था, परंतु जब लड़ाई शुरू हुई तब उसने दोनों दलों से सौदा करना शुरू कर दिया और अन्त में मित्र-राष्ट्रों की ओर से युद्ध में शामिल हो गया, परंतु विजय के बाद मित्र-राष्ट्रों ने उसे वे सब सुविधाएं देने से इन्कार कर दिया जिनकी इटली उनसे अपेक्षा कर रहा था, और जिनमें से कुछ को देने का मित्र-राष्ट्रों ने वायदा भी कर दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि विजयी होते हुए भी इटली की स्थिति हारे हुए देशों से भी बदतर हो गई और देश भर में निराशा और क्षोभ की भावना फैल गई। लड़ाई की वजह से देश की अर्थनीति का ढांचा वैसे ही चकनाचूर हो गया था, वस्तुओं के भाव बहुत अधिक बढ़ गए थे जिसकी सीधी प्रतिक्रिया मध्य-वर्ग के लोगों के जीवन पर हो रही थी। राजनैतिक दृष्टि से इटली में एक जनतंत्रीय शासन-व्यवस्था का संगठन हो गया था परंतु यह जनतंत्रीय सरकार न तो देश की प्रतिष्ठा को बढा सकती थी, न अर्थनीति में कोई मौलिक सुधार करने की क्षमता रखती थी और न अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर ही अपना कोई प्रभाव डाल सकने की स्थिति में थी। देश के राजनैतिक, आर्थिक और नैतिक जीवन के इस प्रकार चकनाचूर होने का लाभ उठा कर कुछ साम्यवादी सत्ता को हड़पने के प्रयत्न में लग गए थे, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक ओर तो राष्ट्रवादी विचार-धारा रखने वाले व्यक्तियों को जिनमें नवयुवकों की संख्या अधिक थी, यह भय हुआ कि राष्ट्रीयता की जिस भावना के आधार पर इटली के भविष्य का प्रासाद खड़ा किया जा सकता था कहीं वह बिल्कुल ही नष्ट न हो जाए और दूसरी ओर पूंजीपतियों ने अपने अस्तित्व और अपनी समस्त जीवन-व्यवस्था को खतरे में पड़ते देखा। जगह जगह अर्द्ध-शिक्षित, निराश बेकार, भूखे और भावनाशील नवयुवकों ने अपनी अर्द्ध-सैनिक टुकड़ियां बनाना शुरू कर दीं, राष्ट्रीयता के संरक्षण के ऊंचे आदर्शों से अनुप्राणित होकर। दूसरी ओर पूंजीपतियों ने जब यह देखा कि इन जोशीली टुकड़ियों का उपयोग बढ़ते हुए साम्यवाद का मुकाबिला करने में किया जा सकता है तो इन्होंने

उनकी सहायता के लिए अपनी थैलियों के मुंह खोल दिए। इस प्रकार उग्र राष्ट्रीयता और भयग्रस्त पूंजीवाद के अपवित्र गठ-बंधन से इटली में फ़ासिज़्म का विकास हुआ और इन भावनाओं को एक प्रभाव-पूर्ण ढंग से संश्लिष्ठ-संयोजित करने का काम मुसोलिनी ने अपने हाथ में ले लिया। मुसोलिनी जैसे सत्य-असत्य, हिंसा-अहिंसा, ईमानदारी और बेईमानी में भेद न करने वाले कूटनीतिज्ञ का कुशल नेतृत्व पाकर फासिज़्म बड़ी तेज़ी से बढ़ चला। फ़ासिज़्म के इस 'टेकनीक' के विकसित हो जाने के बाद वैसी ही परिस्थितियों और वैसे ही कुशल नेतृत्व में जर्मनी में, और बाद में कुछ परिवर्तित रूप में जापान में, वैसी ही फ़ासिस्ट शक्तियाँ सशक्त होने लगीं। आज की भारतीय परिस्थितियों का यदि गहराई से अध्ययन किया जाए तो हम इस परिणाम से बच नहीं सकते कि हमारे देश में भी आज इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ मौजूद हैं जिनके प्रश्रय में फासिज़्म का विकास एक खतरनाक तेज़ी के साथ हो सकता है।

शिक्षा की कमी : समाज सुधार की भावना का अभाव

इसमें तो कोई सन्देह है नहीं कि हमारे जीवन व कार्य-प्रणाली में जनतंत्र का प्रवेश बहुत अधिक नहीं हो सका है। डेढ़ सौ वर्षों के अँग्रेज़ी शासन में जहाँ कुछ छोटी-मोटी जन तंत्रीय संस्थाएँ इस देश में विकसित हुई, कुछ धारा सभाएँ बनीं, प्रतिनिधिक और उत्तरदायी शासन की कुछ बात-चीत की गई, कुछ छोटे मोटे वैधानिक सुधार किए गए, कहीं लोक प्रिय मंत्रियों की स्थापना हुई और कहीं उन्हें थोड़े से अधिकार मिले, जनतंत्र के नाम पर समय समय पर बड़ी बड़ी घोषणाएँ की जाती रहीं, वहां उक्त विदेशी शासन द्वारा जनतंत्र की विरोधी शक्तियों को सदा ही पोषित और पल्लवित किया जाता रहा। इन विरोधी शक्तियों में सबसे बड़ी शक्ति अज्ञान की शक्ति थी। हमारे देश और समाज के प्रति अँग्रेज़ों द्वारा किए जाने वाले इस गुरुतम अपराध का सादृश्य किसी भी सभ्य देश के इतिहास में मिलना कठिन है कि उन्होंने अपने डेढ़ सौ वर्षों के शासन-काल में न केवल ६१ प्रतिशत व्यक्तियों से अधिक को अक्षर ज्ञान से भी वंचित रखा, परंतु शिक्षा की हमारी जो पुरानी पद्धति थी,

मंदिरों और मस्जिदों से संवद्ध पाठशालाएँ और मदरसे थे, गांवों की पंचायतों के तत्त्वावधान में जो शिक्षण-संस्थाएँ चलती थीं उन्हें भी नष्ट कर डाला। अंग्रेज़ शोधकों के वक्तव्यों से ही यह पता लगता है कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना के प्रारंभिक वर्षों तक गांव-गांव में पाठशालाएँ थीं जहां प्रायः प्रत्येक वालक को किसी न किसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेज़ों ने इन प्राचीन संस्थाओं को तो खत्म कर दिया, पर उनके स्थान पर नई संस्थाएँ वे वहुत धीरे धीरे, संख्या में वहुत कम और उपयोगिता की दृष्टि वहुत से गिरी हुई, स्थापित कर सके। जिस देश में शिक्षा की कमी होती है वहां सच्चे जनतंत्र का विकसित होना सदा ही कठिन होता है, क्योंकि जिस विवेकशीलता पर जनतंत्र का वास्तविक आधार होता है उसका विकास शिक्षा के विना संभव नहीं होता। अशिक्षित व्यक्ति की भावनाओं को अधिक आसानी से भड़काया जा सकता है उसकी विवेक बुद्धि को जागृत करने के मुक़ाविले में।

तब क्या यह मान कर चलना ठीक होगा कि जिन आठ या नौ फ़ी सदी व्यक्तियों को अंग्रेजी राज्य में थोड़ा पढ़ लिख जाने का सौभाग्य प्राप्त हो गया उनसे हम निर्विवाद रूप से जनतंत्र के समर्थन की अपेक्षा कर सकते हैं? इसे हमारा दुर्भाग्य ही मानिए कि हमें यह आशा रखने का अधिकार भी नहीं है। मैं तो कभी कभी यह सोचता हूँ कि यह अच्छा ही हुआ कि अंग्रेजी राज्य में शिक्षा का प्रचार इतना सीमित और संकुचित रहा, क्योंकि जिन लोगों को शिक्षा मिली है उन्हें अपना अधिकांश समय एक विदेशी भाषा पर अधिकार प्राप्त करने के निरर्थक प्रयत्न में विताना पड़ा है, काम के विषय भी उन्हें एक विदेशी भाषा के माध्यम से ही पढ़ना पड़े हैं और जो शिक्षा उन्हें मिली है उसमें उन्हें बुद्धि से अधिक जोर स्मरण-शक्ति पर देना सिखाया गया है। उनकी शिक्षा का संवंध न चरित्र-गठन से रहा है और न उदात्त प्रवृत्तियों के विकास से, और न व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्यों का एक स्पष्ट आभास ही हम उनमें पाते हैं। इस सवका परिणाम यह हुआ है कि विना पढे लिखे व्यक्ति में, जागृत विवेक शीलता का अभाव होते हुए भी जहां हमें उसमें कुछ चरित्र-वल मिल जाता है, पढ़े लिखे व्यक्ति में हम न तो गहरे विवेक की अपेक्षा कर सकते हैं

और न ऊँचे चरित्र-बल की । समाज-सुधार की भी किसी प्रवृत्ति का नेतृत्व हम इस अंग्रेजी पढ़े लिखे शिक्षित वर्ग को अपने हाथ में लेते हुए नहीं पाते । एम० ए० और इससे भी अधिक ऊँची डिग्रियां लेने वाले सैकड़ों व्यक्तियों को मैं जानता हूँ जिन्होंने, सम्भवतः अपने मां-बाप के आदेश पर अपनी शादी में दहेज स्वीकार किया है । जिनके घर में आज भी पर्दे की प्रथा चली आ रही है अथवा जो अपने सामाजिक जीवन और व्यवहार में अपने पढ़े लिखे होने का कोई प्रमाण देते दिखाई नहीं देते । जिस वर्ग से हम सामाजिक और आर्थिक तथा राजनैतिक और सांस्कृतिक क्रांति का नेतृत्व अपने हाथ में लेने की अपेक्षा कर सकते थे उसे ही आज हम प्राचीन रूढ़ियों का पिष्ट-पेशण और प्राचीन समाज तंत्र का अंध समर्थन करते हुए पाते हैं ।

राष्ट्रीय आन्दोलन और हमारी भाव प्रवणता

हम अपने इस विस्तृत देश में, पहाड़ों की कगारों पर या नदियों की तलहटी में, या दूर तक फैले हुए मैदानों के विस्तार में, बड़े शहरों की चका-चौंध या छोटे गांवों के सन्नाटे में, घनी आबादी वाले प्रदेशों में या मरुस्थल के बीहड़ में, जनता के किसी भी समूह को लें तो हमें उसमें भावनाशीलता एक बड़े परिमाण में मिलेगी । आप उसे समझाने की चेष्टा करेंगे तो असफल रहेंगे परंतु 'इन्किलाब जिन्दाबाद' या 'अंग्रेज़ी शासन मुर्दाबाद' या इसी प्रकार के और नारे उनकी समझ में जल्दी आ जाते हैं। राष्ट्रीयता का जो प्रचार देश के कोने कोने में हुआ है उसकी 'अपील' भावना पर ही अधिक रही है । साधारण जनता ने यह नहीं समझा है कि अंग्रेज़ों ने हमारे देश का आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक ह्रास किया है, इसलिए उन्हें यहां से चले जाना चाहिए । उसने यह भी नहीं समझा है कि किसी भी विदेशी शासन से जो हमारे प्रति उत्तरदायी न हो हमारा अपना अच्छा या बुरा, प्रगतिशील या पिछड़ा हुआ, शासन ही अच्छा है। उसने तो सभाओं में जोशीले भाषण सुने हैं, महान् नेताओं के जय जय कार का उद्घोष किया है, अख़बारों की खबरें या टिप्पणियां पढ़ी या सुनी हैं और वह राष्ट्रीयता के पीछे पागल बन गई है ।

स्वाधीनता के इस युद्ध में हमें कुछ ऐसे महान् नेता भी मिलते गए हैं जिनमें हमने पूर्णत्व की झांकी देखी। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की अद्‌भुत वक्तृत्व शक्ति, लाजपतराय के अदम्य साहस और बाल गंगाधर तिलक के प्रगाढ़ पांडित्य और अभूत पूर्व संगठन-शक्ति से तो हम मुग्ध थे ही, पिछले तीस वर्षों में हमारे राष्ट्रीय संघर्ष की बागडोर इतिहास के सबसे महान् व्यक्ति के हाथों में रही है, एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में जिसने जीवन के चिरंतन सत्य को प्राप्त कर लिया था और उसमें अटलता से जमे रहने की जिसमें ऐसी अद्‌भुत शक्ति थी कि वह कभी ग़लती नहीं कर सकता था और जिसके संबंध में हमें यह विश्वास भी रहा कि वह कभी ग़लती नहीं कर सकता। गांधी के व्यक्तित्व ने दूसरे बड़े नेताओं को, जो उनके निकट-संपर्क में आए और जिन्होंने उनके जीवन से प्रेरणा ली, जन साधारण के स्तर से इतना ऊँचा उठा दिया कि वे भी हमारी श्रद्धा के पात्र बन गए। गांधी, नेहरू, पटेल, आजाद व राजेन्द्रबाबू आदि ने ही पिछले चालीस वर्षों में हमारे लिए सोचा है, हमारे संबंध में निर्णय बनाए हैं, हमारा नेतृत्व किया है, हमें रास्ता दिखाया है, हमारी सुप्त और शिथिल भावनाओं को जीवन-दान दिया है और ऐसे समय हमें युद्ध के बीचों बीच खड़ा कर दिया है जब हम उसके लिए बिल्कुल भी तैयार न थे अथवा हमें शान्ति और सहयोग के मार्ग पर चलने के लिए बाध्य किया है जब हम संघर्ष के लिए उतावले हो रहे थे। यह सब आकस्मिक रहा है, देश की विशिष्ट परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप, पर इसकी प्रतिक्रिया यह हुई है कि जहाँ हमारे प्रथम श्रेणी के नेता इतने महान् व्यक्ति हैं कि उनकी तुलना किसी भी देश के किसी भी युग के प्रथम श्रेणी के नेताओं से की जा सकती है, हमारे द्वितीय श्रेणी के नेता, जिनका काम जन साधारण से प्रथम श्रेणी के नेताओं को जोड़ने वाली कड़ी जैसा रहा है, अधिक उच्च कोटि के व्यक्ति नहीं हैं। वे प्रथम श्रेणी के नेताओं के संदेश का प्रचार तो कर सकते हैं परंतु उनका अपना कोई निश्चित दृष्टिकोण अथवा विचार-धारा नहीं, अधिक विवेक बुद्धि नहीं, ईमानदारी होते हुए भी कोई बड़ा चरित्र-बल नहीं, और न कोई बड़ी राजनैतिक क्षमता ही है। प्रांतों और देशी राज्यों के बहुत से राजनैतिक नेताओं को राजनीति संबंधी

ज्ञान विविध राजनैतिक प्रवृत्तियों की जानकारी अथवा मानव-स्वभाव के साधारण ज्ञान की दृष्टि से भी देखें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे विना नहीं रहेंगे कि उन्हें राजनीति-शास्त्र की प्रारंभिक कक्षा में रखने की आवश्यकता है। हमारे देश का यह दुर्भाग्य रहा है कि विदेशी शासन से एक लंबे संघर्ष में विजयी होते हुए भी हमारा राजनैतिक चिन्तन न तो गहरा बन पाया है और न सुस्पष्ट। देश में ऐसे व्यक्ति उंगलियों पर गिने जा सकते हैं जिनकी राजनैतिक विचार-धारा सुलझी हुई है और जिनका चिन्तन एक स्वस्थ बौद्धिक पृष्ठभूमि के आधार पर होता है।

स्वस्थ और सुस्पष्ट राजनैतिक चिन्तन का अभाव

एक बात जो मैंने प्रायः अनुभव की है और जिसके कारणों का विश्लेषण इस स्थान पर संभव नहीं है यह है कि हमारे देश में जितने भी राजनैतिक आन्दोलन उठे हैं उनके पीछे बहुत सुस्पष्ट राजनैतिक चिन्तन कभी नहीं रहा। किसी भी देश में जब कोई बड़ी क्रांति हुई है उसके पहिले सदा ही बौद्धिक-जगत में एक और भी बड़ी क्रांति हो चुकी होती है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पीछे, अठारहवीं शताब्दी की यूरोप की बौद्धिक क्रान्ति का प्रभाव था, रूस की क्रांति के पीछे साम्यवाद का एक शताब्दी का चिन्तन। जिन परिस्थितियों में हमें राजनैतिक स्वाधीनता मिली उनकी तुलना मैं उन बड़ी क्रांतियों से नहीं करता, पर यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमारे देश में राजनैतिक अथवा जीवन-सम्बन्धी किसी भी मौलिक चिन्तन का बहुत बड़ा अभाव रहा है। सभी बड़े राजनैतिक आन्दोलनों का नेतृत्व गांधी जी के हाथों मे रहा है। गांधी जी संसार के महानतम चिन्तकों मे से थे पर वह मुख्यत: एक पैगम्बर थे जो जीवन के संबंध में चिर-आदर्शों की स्थापना करता है, दिन-प्रतिदिन की समस्याओं का दिन-प्रतिदिन का समाधान दिन-प्रतिदिन के सिद्धान्तों के द्वारा करने का प्रयत्न उनके व्यक्तित्व से बहुत नीचे की बात थी। यह जनता के हृदय पर उनके महान् प्रभाव का परिणाम था कि जिस आदर्श की ओर उन्होंने इशारा कर दिया देश के लक्ष-लक्ष व्यक्ति उस ओर चल पड़े, परन्तु यह कहना कठिन है कि उनमें से कितने उस आदर्श

को समझे और कितनों के कदम सचमुच उस दिशा में लड़खड़ाते हुए भी बढ़ पाए। गांधी जी के विचारों को कितना कम समझा गया इसका बड़ा स्पष्ट उदाहरण तो १६४२ में मिला जब उनके निकटतम साथियों में से कुछ ने उनके द्वारा निर्दिष्ट कार्यक्रम को समझने में ग़ल्ती की और यह बताने का प्रयत्न किया कि रेल की पटरी उखाड़ना या तार काटना या इस प्रकार की कोई और तोड़-फोड़ गांधी जी के कार्यक्रम में शामिल की जा सकती है। जिन लोगों ने गांधी जी के जीवन-दर्शन को समझा उनका सदा ही हमारे राजनैतिक जीवन पर बहुत सीधा प्रभाव नहीं रहा। देश के व्यावहारिक जीवन के साथ गांधी जी के आदर्शों का किस प्रकार समन्वय किया जा सकता है, इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट चिंतन हमारे सामने नहीं आया।

राजनैतिक चिन्तकों में तो सबसे पहिले जवाहरलालजी का नाम ही लिया जा सकता है। गांधी जी के संबंध में उनका दृष्टिकोण सदा ही कुछ इस प्रकार का रहा है—मैं नहीं जानता कि जो गांधी जी कहते हैं वह कहां तक व्यवहार में लाया जा सकता है, पर मैं इसके अलावा दूसरा रास्ता भी नहीं देखता; किसी अन्य देश के बताए हुए रास्ते पर हिन्दुस्तान नहीं चल सकता; उसे अपना रास्ता स्वयं बनाना होगा; वह रास्ता क्या होगा इसके संबंध में हमें सबसे अच्छी सलाह गांधी जी ही दे सकते हैं, क्योंकि गांधी जी में हिन्दुस्तान की आत्मा की गहराई तक जाने की एक अद्‌भुत क्षमता है; उस क्षमता के संबंध में मैं जब सोचता हूँ तो हैरान हो जाता हूँ; वह क्षमता उन्होंने कैसे प्राप्त की यह मैं नहीं कह सकता; उनका बताया हुआ रास्ता ही क्यों ठीक है, इसके बारे में मैं दलील देना नहीं चाहूँगा; मैं तो यह जानता हूँ कि गाँधी में हमें एक ऐसा नेता मिला है जो कभी ग़ल्ती नही कर सकता और वह हमारे लिए इतना अधिक प्रिय, पूज्य और अनुकरणीय है कि वह जब और जिस रास्ते पर चल पड़ने के लिए हमसे कहे हमें चल पड़ना चाहिए। फुर्सत के मौक़ों पर जवाहर-लाल ने देश की समस्याओं पर गंभीरता से कुछ चिन्तन भी किया—जेल में उन्हें ऐसा करने का सबसे अच्छा अवसर मिलता था—परंतु देश की राजनीति की दिशा का निर्माण करने वाली कोई सुस्पष्ट विचार-धारा उन्होंने हमारे

सामने नहीं रखी। १९३२ के आन्दोलन के बाद जेल से बाहर आने पर उन्होंने 'हिन्दुस्तान किधर' शीर्षक एक लेखमाला लिखी जिसमें उन्होंने तत्कालीन विचार-धाराओं का विश्लेषण किया था और समाजवाद के अपनाए जाने पर जोर दिया था पर आज भी जवाहरलालजी ने स्पष्ट रूप से यह नहीं रखा है कि हमारे देश में समाजवाद का प्रवेश कहाँ तक वांछनीय है, किस प्रकार का समाजवाद हमारे लिए उपयुक्त हो सकता है अथवा किन उपायों और किन साधनों से हम अपने देश में समाजवाद की स्थापना कर सकते हैं।

सुभाषचन्द्र बोस ने १९३६ में 'भारतीय संघर्ष' नाम की अपनी पुस्तक में राजनैतिक चिन्तन का प्रयत्न किया है और उसमें उन्होंने उस समय में प्रचलित फ़ासिस्ट विचार-धाराओं का समर्थन किया है पर वह विचार-धारा अपने उस रूप में हमारे देश में प्रचलित न हो सकी। इसके अतिरिक्त समाजवादी दल, 'रॉयिस्ट' और अन्य छोटे-मोटे राजनैतिक दलों के नेताओं ने समय समय पर कुछ राजनैतिक विचार प्रगट किए हैं पर उनमें से किसी का किसी बड़े राजनैतिक आंदोलन से सीधा सम्बन्ध नहीं रहा है। साम्यवाद जैसी कुछ सुस्पष्ट और सुचिन्तित विचार-धाराएं हमारे यहां विदेश से आई हैं, और विशेष कर युवकों के एक बड़े समुदाय पर उनका प्रभाव पड़ा है, पर उन्हे भी भारतीय परिस्थिति और भारतीय वातावरण के अनुकूल बनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया। इस कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन पर वे अधिक प्रभाव नहीं डाल सकीं हैं। हमारे देश का एक बड़ा दुर्भाग्य यह भी रहा है कि उसके विद्वानों और राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं में बहुत कम सपर्क रहा है। जहां अधिकांश विद्वानों ने राजनैतिक संघर्ष के थपेड़ों से दूर बैठ कर कोरे बौद्धिक विषयों में शुष्क वैज्ञानिक दिलचस्पी ली है हमारे राजनैतिक कार्यकर्त्ता अपने मस्तिष्क के उपयोग को एक बहुत बड़ा अपराध मानते रहे हैं, और उन्होंने किसी राजनैतिक विचार-धारा या कार्यक्रम को बुद्धि अथवा तर्क की कसौटी पर कसने या समझने का कभी कोई प्रयत्न नहीं किया है। बौद्धिक जगत और राजनैतिक जीवन के बीच का यह बड़ा अन्तर स्वभावतः ही जनतंत्र के विकास में एक बड़ी बाधा बन गया है।

फासिज़म का अन्तिम गढ़ देशी रियासतें

इन परिस्थितियों में एक ऐसी विचार-धारा का पनप जाना जो एक अशिक्षित अर्द्ध-शिक्षित अथवा कुशिक्षित, भावनाशील और संसार की गति विधि से सर्वथा अपरिचित, जनता को प्राचीन भारतीय, अथवा हिन्दू-संस्कृति की महानता के नाम पर तानाशाही ढंग पर संगठित करने में विश्वास रखती हो, बिल्कुल भी असम्भव नहीं है, और इसी कारण वर्तमान राष्ट्रीय सरकारों का दायित्व भी बहुत अधिक बढ़ गया है। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जैसे अपनी प्रवृत्तियों के एक अंश को खुले रूप से संगठित करने वाले दल को कानूनी दृष्टि से दबा देना कठिन काम नहीं है, उसकी गुप्त प्रवृत्तियों पर चौकसी और अंकुश रखना भी एक ऐसी सरकार के लिए कठिन नहीं होना चाहिए जिसे सबसे प्रभावपूर्ण विरासत शान्ति और व्यवस्था के एक सुगठित यंत्र की मिली हो, पर उसकी विचार-धारा को एक विरोधी, और जनतंत्रीय, विचार धारा के सही और सतत प्रचार के द्वारा नियंत्रित रखना, और उस जनतंत्रीय विचार-धारा की नीव को सुदृढ़ बनाने के लिए शिक्षा का व्यापक प्रसार, जिसके मूल में उसके उद्देश्यों, पाठ्य क्रम व व्यवस्था सभी में क्रांतिकारी परिवर्त्तन की भावना हो, आवश्यक होगा। पर, इसके साथ ही सरकार को अपनी प्रतिष्ठा को भी बढ़ाते रहने में उद्यतशील रहना होगा। देश में प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए तो उसके लिए व्यवस्था की सुदृढ़ता के साथ नैतिक धरातल को लगातार ऊँचा उठाते रहना आवश्यक होगा — पक्षपात, रिश्वतखोरी और चोर बाजार को खत्म करने में अपनी सारी शक्तियां लगा देनी होंगी। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी उसे अपनी साख को ऊँचा ही रखना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों को सुदृढ़ बनाने अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में सम्मान-पूर्ण भाग लेने व समीपवर्त्ती देशों का, सामान्य हित के आधार पर, विश्वास-पूर्ण नेतृत्व प्राप्त करने में ही सरकार अपनी अन्तर्राष्ट्रीय साख बढ़ा सकती है। शासन-सम्बन्धी दृढ़ता, नैतिक महानता और दूर तक जाने वाली, पैनी, कल्पना-शक्ति के आधार पर हमारी राष्ट्रीय सरकार निःसन्देह फासिस्ट शक्तियों को बढ़ने से रोक दे सकती है।

फासिज्म का अन्तिम गढ़ रियासतें

परंतु, हमारे देश में एक बड़ा भाग ऐसा भी है जहां अभी तक देश में व्यापी और फैल जाने वाली चेतना, और स्वाधीनता–जन्य दायित्व की पूरी अनुभूति, का पूरा प्रकाश नहीं पहुँचा है। यह भाग देशी रियासतों का है, जो देश के एक तिहाई से भी अधिक भाग में फैली हुई हैं। अंग्रेज़ी शासन के जमाने से ही देशी रियासतें सभी मध्य-युगीन प्रवृत्तियों और प्रतिगामी शक्तियों का गढ़ बन गई थीं। अंग्रेज़ी भारत और देशी रियासतों के विकास की गति में सदा ही समय का एक बड़ा अन्तर रहा। अंग्रेज़ी भारत में जनतंत्रात्मक संस्थाओं का थोड़ा बहुत विकास हुआ भी। पर देशी रियासतों में इस प्रकार के किसी विकास की गुंजाइश नही थी। वहां तो महाराजा अथवा नबाब का ही एक छत्र शासन था और उस शासन के विरुद्ध कोई अपनी आवाज़ नहीं उठा सकता था, क्योंकि उसके पीछे अंग्रेज़ी राज्य का समस्त बल था। अंग्रेज़ी भारत में *राष्ट्रीयता की भावना लगातार बढ़ती जा रही थी परंतु देशी रियासतों में अधि*कांश में अभी कुछ वर्ष पहिले तक गांधी टोपी पहिनना जुर्म समझा जाता था और राष्ट्रीय विचार रखने वाले व्यक्तियों पर नृशंस अत्याचार किए जाते थे। पुरानी सभ्यता और संस्कृति के नाम पर, पुराने रीति रिवाजों और परपराओं की आड़ में, इन देशी रियासतों में प्रतिगामी शक्तियों को पल्लवित पोषित किया जाता रहा। भारतीय सिविल सर्विस में से सबसे अधिक प्रतिक्रियावादी और हृदयहीन व्यक्तियों को चुन कर देशी रियासतों में भेजा जाता था और वहां उन्हें मनमाने अत्याचार करने की पूरी सुविधा थी। १९४२ के बाद से देशी राज्यों में राजनैतिक चेतना तेज़ी के साथ बढ़ी है, पर आज भी मनोवृत्ति का अन्तर इतना स्पष्ट है कि किसी भी देशी राज्य की सीमा मे प्रवेश करते ही हमें फौरन उसका आभास मिलता है। विचारों की संकीर्णता, हृदय का छोटापन, ओछे राग द्वेष, निम्न कोटि के व्यक्तिगत संघर्ष, जिन्हें शेष भारत की नागरिकता वर्षों पहिले लांघ चुकी है, देशी रियासतों में आज भी छोटे बड़े परिमाण में पाए जाते हैं। जनतंत्र को स्वीकार करने की जनता की इस अक्षमता के साथ एक ओर तो धर्म के नाम पर उठाए जाने वाले नारों के प्रति उसका सहज आकर्षण है और दूसरी ओर सामन्तशाही का समस्त व्यवस्था तंत्र

है, जो अभी तक टूटा नहीं है, और जिसे तोड़ने का कोई बड़ा प्रयत्न भी अभी तक नहीं किया गया है। अधिकांश देशी रियासतों में आज हम इन दोनों ही प्रवृत्तियों को एक फ़ासिस्टी गठबन्धन में बँधते हुए देख रहे हैं। देश में जनतंत्र की स्थापना में तत्पर किसी भी राष्ट्रीय सरकार को इस प्रच्छन्न, पर सुदृढ़, ख़तरे की ओर से असावधान नहीं रहना चाहिए—क्योंकि यह असावधानी उसके लिए उस अवसर पर हानिकर घातक सिद्ध हो सकती है जब वह अन्य स्थानों में इस प्रकार की शक्तियों पर अन्तिम मोर्चा फतह कर लेने की स्थिति तक पहुँच चुकी हो।

स्वाधीनता का उत्तरदायित्व

स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के बाद हमारे चिन्तन का दृष्टिकोण बदल जाना चाहिए, और 'भावना' के स्थान पर 'विवेक' को हमें अपनी राजनीति का आधार बनाना चाहिए। जब तक हमारे देश में विदेशी हुकूमत थी और हमारा अनुभव हमें बता रहा था कि उसे हटाए बिना हम जीवन के किसी भी क्षेत्र में एक भी कदम आगे नहीं रख सकेंगे तब तक तो उसका मुक़ाबिला करने के लिए जनता की भावना को जागृत और उद्दीप्त करना आवश्यक था, पर उसके हट जाने के बाद तो हमें शान्ति और विवेक और दृढ़ता के साथ, उन सिद्धांतों को निर्धारित और कार्यान्वित करना है जिन पर चल कर हम अपने देश को एक ऐसे नए सांचे में ढाल सकें कि वह संसार में आदर और प्रतिष्ठा का पात्र बने। जब हमें किसी इमारत को गिराना होता है तब हम एक सीमा तक उन सभी लोगों को जो हमारे इस काम में योग देना चाहते हैं अपने अपने हथियारों के प्रयोग की इजाजत दे भी सकते हैं, पर पुरानी गली सड़ी इमारत के ढह जाने के बाद जब हम उसकी नींवों पर एक नया प्रासाद खड़ा करने के काम में लगे होते हैं तब हमें अपने सामने एक स्पष्ट नक्शा रखना पड़ता है और इस संबंध में सतर्क रहना होता है कि खिड़की के स्थान पर खिड़की हो और रोशनदान के स्थान पर रोशनदान।[1] पर, बहुत कुछ इस बात पर भी

[1] फिर भी ऐसे लोग तो मिलते ही हैं जो आँखों के सामने के तथ्यों को मानने

निर्भर रहता है कि हमारे सामने का नक्शा कहाँ तक ठीक है। यही काफ़ी नहीं है कि हमारा नक्शा अच्छे उद्देश्यों वाली उस भीड़ को संतुष्ट कर सके जिसने पुरानी इमारत को गिराने में एक शानदार भाग लिया है। वह तो एक गौण प्रश्न है। यह नक्शा तो ऐसा होना चाहिए जो एक अच्छे विश्व में हमारे लिए एक अच्छा स्थान दिला सके। जब तक हम गुलाम थे, संसार की विचार-धाराओं के प्रवाह से हम अछूते रह सकते थे, और हमारे देश मे जिन विचार-धाराओं का विकास हो रहा था, उनसे संसार की राजनीति अभिज्ञ रह सकती थी। यह ठीक है गुलामी के दिनों में हमने एक स्वस्थ, लोकतंत्रीय विचार-धारा का ही समर्थन किया, पर परिस्थितियों ने आज हमें संसार की राजनीति के बीचों बीच ला खड़ा किया है, जहाँ कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं की हम पर सीधी प्रतिक्रिया होती है और हमारे निर्णयों का प्रभाव संसार की राज-नीति पर पड़ता है, और आज हमारे सामने यह खतरा है कि हम, अच्छी नीयत रखते हुए भी, कुछ ऐसे निश्चय बना लें जो वर्त्तमान में तो हमें बड़े आकर्षक प्रतीत हों, पर जो हमारे और संसार के भविष्य को अंधकार में डाल दें।

यह खतरा जनतंत्र का मौलिक खतरा है। जनतंत्र में शासन जिस किसी भी राजनैतिक दल के हाथ में होता है वह जनता का समर्थन पाने की दृष्टि से, कभी जनता की ऐसी भावनाओं को सतुष्ट करने के लिए भी तत्पर हो जाता है जो बहुत स्वस्थ नहीं होती पर जिन्हें अपने साथ लेकर वह देश की शक्ति को बढ़ा सकता है। यह निश्चित है कि भारतीय जनता के राजनैतिक चिन्तन का

से भी इन्कार करते रहते हैं। हमारे देश की राजनैतिक स्वाधीनता आज की स्थिति का एक ऐसा ही तथ्य है, पर मैं साम्यवादी और हिन्दू राष्ट्रीयता वादी दोनों को ही यह कहते हुए पाता हूँ कि अभी हमें स्वाधीनता नहीं मिली है और पुरानी इमारत की तोड़-फोड़ का काम अभी चलते रहना चाहिए, जबकि वस्तुस्थिति यह है कि, ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से, वे अपने हँसिए-हथौड़े और त्रिशूलों का प्रयोग उन नींवों को ही खोद डालने में करना चाहते है जो लोकतंत्रीय शासन का ढाँचा खड़ा करने के लिए आवश्यक है।

धरातल आज स्वस्थ नहीं है। डेढ़ सौ वर्षों की गुलामी का ज़हर भी मिटते मिटते ही मिटेगा, पर अचानक, विना किसी सीधे संघर्ष के और सांप्रदायिक विभाजन के आधार पर मिल जाने वाली स्वाधीनता की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ भी स्वस्थ नहीं हो सकती थीं। सांप्रदायिक विद्वेष का ज़हर जिस तीखी मात्रा में हमारे स्नायुओं में प्रवेश पा चुका है, उसे मिटने में समय लगेगा। १९४७ के उत्तरार्द्ध में जो तीव्र सांप्रदायिक भावनाएँ देश भर में फैल गई थीं उनके सामने न झुक कर, और उनसे किसी प्रकार का समझौता न करके, देश की राष्ट्रीय सरकार ने ऐसे अभूतपूर्व साहस का परिचय दिया जिसकी बहुत कम जनतंत्रीय सरकारों से अपेक्षा की जा सकती है। आज वातावरण में वैसा कंपन नहीं है। उसमें अधिक स्थायित्व आ गया है। पर आज भी खतरा मिटा नहीं है। धर्मांधता का जो बवंडर हमारे देश में आज़ादी और बँटवारे के बाद उठ खड़ा हुआ था उसके समर्थन के परिणामों की भीषणता तो बहुत अधिक स्पष्ट थी। भारत-सरकार भी इस सांप्रदायिक धर्मांधता के प्रति यदि वैसा ही निष्क्रिय अथवा सहानुभूति-पूर्वक दृष्टिकोण रखती जैसा कि पाकिस्तान की सरकार ने रखा तो एक ऐसे अवसर पर जब दोनों उपनिवेश अपने पैरों पर खड़े भी नहीं हो सके थे हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में एक मूर्खतापूर्ण युद्ध छिड़ गया होता, उसने इस महाद्वीप के समस्त जीवन को छिन्न भिन्न कर दिया होता, और हम सभी देशों के सामने उपहास और अवज्ञा के पात्र बन गए होते। नेहरू और पटेल की सरकार—जिसे गाँधी का नैतिक पथ प्रदर्शन प्राप्त था—इस प्रकार की कोई गल्ती नहीं कर सकती थी, पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह बिल्कुल संभव है कि क्रोध के आवेश में तो हम सतर्क रहें, और अपने को उस व्यक्ति के विरुद्ध, जिस पर हमें क्रोध आ रहा है, कोई ऐसा काम करने से बचालें जो हमारी बदनामी का कारण बने पर वह आवेश घृणा का एक स्थाई रूप लेकर हमारे मन में फैल जाए और समय समय पर हमें ऐसे काम करने के लिए प्रेरित करता रहे जो एक लंबे अर्से में हमारे लिए वैसे ही भीषण परिणामों की सृष्टि कर दें। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की भी हमें उपेक्षा नहीं करना चाहिए।

स्वाधीनता का उत्तरदायित्व

आज हमारे देश में बहुत सी ऐसी भावनाएँ काम कर रही हैं, बहुत से ऐसे आक्रोश और आवेश हैं, बहुत सी ऐसी धारणाएँ और विश्वास हैं, जिनका उपयोग कोरे राजनैतिक जनतंत्र में विश्वास रखने वाले किसी भी राजनैतिक दल के द्वारा एक ग़लत ढंग से देश की शांति को बढ़ाने की दिशा में किया जा सकता है। मुसल्मानों के प्रति देश में जो घृणा और विद्वेष का भाव पाया जाता है वह तो ऊपर से देखने से ही भद्दा और गँवारू जान पड़ता है। कोई भी आधुनिक सरकार उसका सीधा समर्थन नहीं कर सकती। पर, पाकिस्तान के प्रति हमारे मन में, जो घृणा और अवज्ञा है वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संभवत: हमारी सांप्रदायिक भावना का ही विवेकीकृत राजनैतिक रूप होते हुए भी राजनीतिज्ञ की दृष्टि में एक शुद्ध राजनैतिक भावना है। कोई बात मुसल्मानों के खिलाफ़ कही जाती है तो हमे चुभती है—क्योंकि वह अपने नंगे रूप में सांप्रदायिक है—पर वही बात जब पाकिस्तान के खिलाफ़ कही जाती है तब राजनैतिक रूप ले लेने के कारण वह सभ्य मान ली जाती है। मैं इससे इन्कार नहीं करता कि पाकिस्तान के विरुद्ध हमारी भावना यदि सचमुच हमारी सांप्रदायिक भावना का ही राजनैतिक रूप हो तो भी वह एक परिष्कृत और सुसंस्कृत रूप है। इस भावना का आधार कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि वह देश में सांप्रदायिक भावना से कहीं अधिक व्यापक है, और समाज के ऊँचे वर्ग में भी वह अनादर की दृष्टि से नहीं देखी जाती। किसी जनतंत्रीय शासन के द्वारा यदि उसका उपयोग किया गया तो उसमें आपत्ति भी नहीं उठाई जा सकती और एक बड़े वर्ग का समर्थन उसे प्राप्त हो सकेगा। पाकिस्तान का हमारे प्रति पिछले डेढ़ वर्षों में जो रवैय्या रहा है, जूनागढ़, काश्मीर और हैद्राबाद के मामलों में उसने समय समय जो अनधिकृत हस्तक्षेप किया है और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और लोकमत को झूठ और फ़रेब के सहारे, हमारे विरुद्ध उभाड़ने का प्रयत्न किया है, वह सब हमारे सहज रोष का कारण बन गया है। जन साधारण में ये सब बातें क्षोभ फैला सकती हैं, पर हमारे नेताओं को, जिनके हाथ में जनतंत्रीय शासन का उत्तरदायित्व है, यह पता है कि जिन परिस्थितियों में पाकिस्तान की सृष्टि हुई और जिस वर्ग के हाथों में उसके शासन

की बागडोर है और राजनैतिक चेतना के जिस स्तर पर आज पाकिस्तानी प्रदेशों की जनता है, उसमें पाकिस्तान द्वारा इससे भिन्न किसी मार्ग के अवलंबन की अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। हमें पाकिस्तान के प्रति अपनी किसी भी नीति का निर्धारण इसी मान्यता के आधार पर करना है। जो भाई हमसे जुदा होकर घर के एक छोटे हिस्से में ज़िन्दगी के शेष दिन बिताने के लिए इस आधार पर विवश हुआ हो कि हमारा वर्त्ताव उसके साथ अच्छा नहीं था, वह जुदा होने के बाद तो हमसे और भी अधिक क्षुब्ध रहेगा। पर, बँटवारे को मान लेने के बाद तो हमारे पास इससे सुन्दर कोई मार्ग नहीं रह जाता कि अपने हिस्से को उसके क्षोभ और आक्रमण से सुरक्षित रखते हुए हम उसके प्रति एक नई सद्भावना का विकास करने का प्रयत्न करें।

इसी प्रकार की एक दूसरी भावना जो हमें एक ग़लत दिशा में ले जा सकती है, अंग्रेज़ों के प्रति अविश्वास की भावना है। अंग्रेज़ी शासन ने पिछले डेढ़ सौ वर्षों में जिस नृशंसता के साथ राजनैतिक गुलामी में हमें जकड़े रखा और हमारा आर्थिक शोषण किया और सांस्कृतिक और नैतिक पतन के गढ़े में हमें ढकेला, उसे देखते हुए अंग्रेजों के प्रति अपनी कड़वाहट और रोष को भूल जाएँ, यह भी मनोविज्ञान के विरुद्ध है। पर, एक बार फिर, हमारे नेता यह जानते हैं कि जो ब्रिटेन आज हमें दोस्ती का निमन्त्रण दे रहा है वह उस ब्रिटेन से सर्वथा भिन्न है जिसने हम पर शासन किया था। साम्राज्यवादी ब्रिटेन को दूसरे महायुद्ध के बीच सिसकते और दम तोड़ते मैंने देखा है, फ़ौजी कामों के लिए ब्रिटेन में जबर्दस्ती भरती किए जाकर, मध्यम श्रेणी के जो हज़ारों युवक हिन्दुस्तान लाए गए थे उनमें से अनेकों के साथ घंटों बैठकर मैंने बातचीत की है, उनकी सभाओं में भाषण दिए हैं, और उनसे विचारों का घनिष्ट और स्पष्ट आदान प्रदान किया है, और मैंने देखा कि वे एक नए ब्रिटेन के प्रतिनिधि थे। तब मैं नहीं जानता था कि यह नया ब्रिटेन इतना सशक्त है कि १९४५ के चुनावों में वह पुराने, कट्टरपन्थी, साम्राज्यवादी ब्रिटेन को आसानी से पछाड़ देगा। १९४५ के बाद से ब्रिटेन के बाहरी सम्बन्ध और उसका समस्त भाग्य इस, नई, प्रगतिशील पीढ़ी के हाथ में है, और इस नई पीढ़ी के आस-

पास, चारों ओर, पुराना ब्रिटेन जीवन के अपने समस्त मूल्यों और आर्थिक-व्यवस्था और समाजतंत्र के साथ इतनी तेजी से टूट रहा है कि वह हैरान और परेशान है। ब्रिटेन की आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियां उसे अमरीका का प्रश्रय खोजने पर विवश कर रही हैं; दूसरी ओर वह अमरीका और रूस के बढ़ते हुए मनोमालिन्य के बीच पिसता जा रहा है। पुराने, मुर्दा ब्रिटेन के प्रति अपना क्रोध इस नए ब्रिटेन के प्रति प्रदर्शित करने की ग़ल्ती साधारण व्यक्ति तो कर सकता है पर ज़िम्मेदार नेता यदि ऐसा करें तो उन्हें शोभा नहीं देगा। पुराने, मुर्दा ब्रिटेन के इधर-उधर भटकते हुए कुछ प्रेत जिनके हाथ में आज कुछ भी शक्ति नहीं रह गई है, यदि हमारे प्रति कुछ पुरानी भावनाओं को एक भोंडी अभिव्यक्ति देना चाहें तो उसे हम उपेक्षा की ही दृष्टि से देखें। कॉमनवेल्थ में रहने के प्रश्न को भी हमें इसी पृष्ठ भूमि पर देखना है। कॉमनवेल्थ के लिए आज ग़ुलाम देशों की श्रृंखला बने रहना असंभव है; वह तो ऐसे स्वतंत्र देशों के एक संघ का ही रूप ले सकता है जिनके सामान्य स्वार्थ एक दूसरे से मिलते हों। कॉमनवेल्थ में रहने या न रहने के प्रश्न का निर्णय हिन्दुस्तान को सामान्य स्वार्थों और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की आवश्यकताओं के दृष्टिकोण से ही बनाना है। उसे चर्चिल या वेवल या मेसर्वी की अप्रतिनिधिक बौखलाहट की भावनाशील प्रतिक्रियाओं पर नहीं छोड़ा जा सकता। और जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सद्भावना और संगठन की आवश्यकताओं से परिचित नहीं है वे तो उन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का भी आसानी से मज़ाक उड़ा सकते हैं जो एक अपूर्ण जगत में अपूर्ण साधनों के द्वारा इस दिशा मे अपूर्ण, पर सच्चे, प्रयत्नों में लगी हुई हैं।

इस पुस्तक में हिन्दू-राष्ट्रीयता वादी उन फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है जिन्हें यदि बढ़ने का अवसर दिया गया तो वे हमारे देश के भविष्य को एक गहरे अन्धकार से प्रच्छन्न कर देने की क्षमता रखती हैं और उन साम्यवादी प्रवृत्तियों की ओर अप्रत्यक्ष रूप से इशारा किया गया है, जो यद्यपि आज तो जनतन्त्र से सीधा संघर्ष नहीं ले रही हैं पर जो बाद में जाकर ख़तरनाक हो सकती हैं, क्योंकि उनके उद्देश्य चाहे कितने ऊँचे क्यों न

हों उनके साधन ज़हर से बुझे हुए हैं। पर, जनतन्त्र में विश्वास रखने वाले जिस राजनैतिक दल के हाथ में आज देश के शासन की बागडोर है उसके सामने भी दो रास्ते हैं—एक, शायद अधिक सीधा, जो उसे फासिज़्म की ओर ले जा सकता है और दूसरा, शायद कुछ चक्करदार, जो अधिक संपूर्ण जनतन्त्र की ओर विकसित होता चला गया है। देश भविष्य में इन दोनों में से किस मार्ग पर चलेगा, इसके संबंध में आज कुछ कहना तो कठिन है। पर, इन दोनों मार्गों की दिशा के संबंध में कुछ संकेत दिए जा सकते हैं। पहिला मार्ग स्पष्टतः देश की शक्ति को बढ़ाने का मार्ग है। उसमें विचार-धाराओं, अथवा आदर्शों से अधिक महत्त्व ठोस व्यावहारिकता को दिया जाएगा। यह वह मार्ग है जिस पर चलने में मुसलमानों के प्रति एक सीमित वर्ग में फैली हुई धर्मांधता की भावना का नहीं पर पाकिस्तान के प्रति एक व्यापक वर्ग में फैली हुई राजनैतिक आक्रोश की भावना का उपयोग देश की शक्ति को बढ़ाने की दिशा में किया जा सकेगा। पाकिस्तान से देश को खतरा है, इस कारण देश की शक्ति को बढ़ाना आवश्यक है; ब्रिटेन हमें कमज़ोर देखना चाहता है, संसार में हमारी बढ़ती हुई प्रतिष्ठा से (जिसका अस्तित्व वस्तु-जगत् से अधिक हमारी राष्ट्रीय भाव-प्रवणता में है) उसे ईर्ष्या है; अमरीका के स्वार्थ उसे पाकिस्तान और मध्य-पूर्व के इस्लामी देशों का साथ देने के लिए मजबूर कर रहे हैं और ब्रिटेन भी अमरीका के पीछे पीछे चलने के लिए बाध्य है;—ये सब खतरे हमारे सामने हैं जिनसे हमें सचेत रहना है और अपने को मज़बूत बना लेना है (देश के खतरों के नाम पर ही जनतन्त्र के अन्तराल में पनपने वाला फ़ासिज़्म अपने को मज़बूत बनाता है)। इस प्रकार का दृष्टिकोण जिसका समस्त आग्रह आदर्शों और विचार-धाराओं की उपेक्षा करके केवल राष्ट्रीय शक्ति को ही बढ़ाने पर रहता है, अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को अनादर की दृष्टि से ही देखता है और उनकी छोटी छोटी असफलताओं को लेकर देश में उनके प्रति उपेक्षा का वातावरण फैलाने की उसकी प्रवृत्ति रहती है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जटिलताओं में संयुक्त-राष्ट्र संघ और सुरक्षा-परिषद की विवशता का तो और भी आसानी से मज़ाक उड़ाया जा सकता है। हिन्दुस्तान अकेले ही

सारी दुनिया का मुक़ाबिला कर सकता है, यह विचार अहमन्यता हमारी राष्ट्रीयता को चाहे जितना रुचे, एक ग़लत और ख़तरनाक विचार है। इस वातावरण में जनता का समस्त ध्यान केन्द्रीय शासन को मज़बूत बनाने और देश की सैनिक शक्ति को बढ़ाने की ओर आकर्षित किया जा सकता है, और देश में जब तक ख़तरे का वातावरण है, तब तक उसकी समाज व्यवस्था अथवा अर्थनीति में परिवर्त्तन के किसी भी प्रस्ताव को केवल स्थगित ही नहीं किया जा सकता उसे, देश की रक्षा के नाम पर, कुचला भी जा सकता है, और जनतन्त्र में विश्वास रखने वाले ऐसे लोगों को, जो राजनैतिक स्वाधीनता का स्वाभाविक विस्तार आर्थिक समानता की दिशा में करना चाहते हैं, देश का दुश्मन भी क़रार दिया जा सकता है। यह वह रास्ता है जो जनतंत्र से फ़ासिज़म की ओर जाता है।

हमारा देश भविष्य में इस मार्ग पर चलेगा, यह मान लेने के लिए मेरे पास पर्याप्त कारण नहीं हैं। उसके सामने जो दूसरा मार्ग है—जो फ़ासिज़्म से बिल्कुल उल्टी दिशा में जाता है—उसकी ओर भी मैं संकेत करना चाहूँगा, क्योंकि मेरा विश्वास है कि उसी मार्ग पर चल कर हम अपनी राजनीति की फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को दबा सकते हैं और संसार की प्रगतिशील शक्तियों से अपना नाता जोड़ सकते हैं। यह मार्ग पहिले मार्ग से बिल्कुल भिन्न दिशा में जाता है। इसमें सरकार की शक्ति बढ़ाने से अधिक ज़ोर इस बात पर दिया जाता है कि उसके सामने ऊँचे व सच्चे आदर्श हों, चाहे उन आदर्शों को प्राप्त करने के लिए उसे कुछ कठिनाइयों का ही सामना करना पड़े, और कुछ ऐसे शक्तिशाली तत्वों के समर्थन से, उदाहरण के लिए पूंजीपतियों के सहयोग से, हाथ धोना पड़े जिनकी सहायता से वह अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा सकती है। इस मार्ग पर चलने का अर्थ होगा जनतन्त्र की परंपराओं के निर्माण के लिए भी प्रयत्नशील रहना, चाहे उसका परिणाम यही क्यों न हो कि, जनतंत्र और विधान की सीमाओं में, देश में ऐसे राजनैतिक दल सशक्त बनने लगें जिनका सीधा समर्थन उसे प्राप्त न हो—क्योंकि जनतन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए तो वैधानिक विरोध भी एक आवश्यक शर्त है। पाकिस्तान के प्रति इस विचार-

धारा के समर्थकों का रुख मैत्री और सहानुभूति का होगा। वे मुसलमानों के विरुद्ध भड़की हुई सांप्रदायिक भावना को ही नियंत्रण में नहीं रखना चाहेंगे, पाकिस्तान के विरुद्ध भी घृणा अथवा विद्वेष के किसी भाव को हृदय में प्रश्रय नहीं देंगे। पाकिस्तान एक ऐसा विभाजित, अविकसित, धनहीन और पिछड़ा हुआ देश है कि अपनी सारी शक्ति, और उस शक्ति के पीछे अपने सारे वैमनस्य, के साथ भी वह हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता। उसकी शक्ति और वैमनस्य का संगठन भी तभी संभव है जब हम उसकी दुर्भावना का दुर्भावना से ही बदला लेकर उसे वैसा करने के लिए उचित आधार दे दें। पाकिस्तान यदि निर्बल और निःसहाय है तो जिन इस्लामी देशों द्वारा पाकिस्तान को सहायता पहुँचाए जाने का हमें डर है वे व्यक्तिशः पाकिस्तान से कहीं अधिक कमज़ोर और समग्रतः भी हिन्दुस्तान पर आक्रमण करने की स्थिति में नहीं हैं। पाकिस्तान और इस्लामी देशों से हमें भय तो तभी हो सकता है जब हम अपनी आक्रमणात्मक कार्यवाहियों से दुनियां के किसी बड़े राष्ट्र अथवा राष्ट्रों, अमरीका अथवा रूस अथवा दोनों को उनका समर्थन करने पर विवश कर देंगे, और तब अपनी शक्ति की समस्त अहमन्यता भी हमें बचा नहीं सकेगी। और सच तो यह है कि हमें केवल पाकिस्तान से ही अपने सम्बन्धों को मैत्री-पूर्ण और दृढ़ नहीं बनाना होगा, पश्चिमी एशिया के समस्त इस्लामी राष्ट्रों से हमें वैसे ही निकटतम सम्बन्ध स्थापित करना होंगे जैसे दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों से। आर्थिक दृष्टि से हिन्दुस्तान का संबंध दोनों ही भूखंडों से उतना ही निकट है जितना सांस्कृतिक दृष्टि से वह दोनों के समीप है। हम प्रायः यह मानने की ग़ल्ती करते हैं कि हिन्दुस्तान वह देश है जहाँ हिन्दू-सभ्यता का विकास हुआ था और यह भूल जाते हैं कि इस्लामी सभ्यता ने भी अपने सांस्कृतिक विकास की चरम-सीमा का स्पर्श इसी देश में किया था। और अन्ततः कुछ एशियायी तत्त्व भी तो हैं जो हिन्दुस्तान, दक्षिण पूर्वी एशिया और मध्य-पूर्व के दोनों देशों में सामान्य-रूप से पाए जाते हैं और जिनके आधार पर हम एक एशियायी संस्कृति, जीवन के सबंध में एक एशियायी दृष्टिकोण, बुद्ध, मुहम्मद और ईसा, लून्ज़ा और कन्फ़्यूशियस का दृष्टिकोण,

विकसित करना चाहते हैं।

ब्रिटेन और उसके साथियों के साथ एक कॉमनवेल्थ में रहने में भी हमें कोई एतराज नहीं होना चाहिए, बशर्ते कि वह एक नए ढंग का कॉमनवेल्थ हो। बहुत से ऐसे सामान्य स्वार्थ हैं जो हमें ब्रिटेन और उसके साथियों से जोड़ते हैं। ब्रिटेन तीन बड़े माने जाने वाले राष्ट्रों में अकेला है जो सही रास्ते पर चल रहा है। यह सच है कि ब्रिटेन आज एक बड़ा राष्ट्र नहीं रह गया है, पर उसका रास्ता सही है। यह भी सच है कि उस रास्ते पर पूरी दूर तक चलने की तैयारी आज ब्रिटेन में नहीं है। वह एक बढ़ते हुए संघर्ष की राजनीति में अपनी स्थिति को सुरक्षित बना लेना चाहता है। उसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों की आवश्यकता होती है। विचार-धारा की समानता यदि हो तो इन संबंधों मे दृढ़ता आ जाती है। आज ब्रिटेन एक ओर तो पश्चिम यूरोप के देशों से निकट के संबंध स्थापित करना चाहता है और दूसरी ओर अंग्रेजी साम्राज्य के अपने पुराने साथियों के साथ, बराबरी के आधार पर, एक नई मैत्री कायम करने के लिए बेचैन है। इन सभी देशों से उसकी दृष्टिकोण की समानता है—राजनैतिक जनतंत्र में सभी का विश्वास है—पर विचार-धाराओं की समानता पर ब्रिटेन का आग्रह नहीं है। एक समाजवादी ब्रिटेन के साथ एक समाजवादी हिन्दुस्तान यदि एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी संघ में शामिल हो पाता तो वह सचमुच आज के पूंजीवादी जनतंत्र और हिंसात्मक साम्यवाद के बढ़ते हुए संघर्ष को मिटाने की दिशा में एक बहुत बड़ा कदम होता, पर इस दिशा में हम तो अभी उतना भी नहीं बढ़ पाए हैं जितना ब्रिटेन बढ़ चुका है। एक प्रगतिशील ब्रिटेन के साथ एक जनतंत्रीय संघ में शामिल होने का मार्ग हम निकाल सकें, और उसके आधार पर सभी सामाजिक न्याय के लिए इच्छुक और आर्थिक समानता के लिए प्रयत्नशील सभी देशों को संगठित करने की दिशा में हम आगे बढ़ सकें तो हम अपने को सही दिशा में ही आगे बढ़ते हुए पायेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय शांति की खोज में व्यस्त रहते हुए हम संयुक्त-राष्ट्र संघ के प्रति उस समय तक सहानुभूति और आदर का दृष्टिकोण ही रखेंगे जब तक वह अंग्रेज, अमरीकी अथवा अमरीकी गुट-

प्रिय व्यक्तियों के हाथ का खिलौना-मात्र नहीं बन जाता, और अभी तो इस प्रकार के पतन के कोई स्पष्ट संकेत हम उसके कार्यों में अथवा दृष्टिकोण में नहीं पा रहे हैं। स्वाधीनता के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों में एक शिष्ट और संयत, सुलझे हुए और प्रगतिशील, दृष्टिकोण को अपनाने का उत्तर-दायित्व भी हम पर आ गया है—क्योंकि फ़ासिस्ट प्रवृत्तियों को हम राष्ट्रीय स्तर पर तब तक पूर्ण रूप से कुचल नहीं सकेंगे जब तक अन्तर्राष्ट्रीय सतह पर भी हम उनके ख़िलाफ एक बड़ा मोर्चा संगठित करने की दिशा में प्रयत्नशील न हों।

0